धाँसू

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

लेखकीय सोच…

दूसरे कहानी-संग्रह 'अन्तःपुर' की भूमिका के बाद दोस्तों की नेक सलाह थी कि भूमिका से बेवजह कुछ लोगों को कहानियों से मरककर उठा-पटक का मौका मिल जाता है। भूमिका को कहानियो का निचोड़ और कभी-कभी तो कहानियाँ ही समझ लिया जाता है! 'लाल-पीली जमीन' में चुप मार गया था।

तो अब फिर?…गधे को चांदनी रात मे हरे-भरे खेत के बीच फिर गाने का मन हो आया…गाओ, भाई!

हर प्रामाणिक लेखन प्रतिबद्ध भी होता है……प्रतिबद्ध वामवादियों द्वारा दिये गये तंग और फूहड़ अर्थ में नहीं बल्कि लेखन से प्रतिबद्धता के व्यापक अर्थ मे…और इसी प्रतिबद्धता से प्रामाणिकता आती है। अगर हम लेखन से प्रतिबद्ध हैं तो फिर उत्तरोत्तर लेखन हमारे लिए और-और तराशा जाता हुआ 'क्राफ्ट' मात्र नहीं होगा…उसके आगे कहीं जीवन की उस समझ को भी साफ करता होगा जो हम अपनी रचनाओं के माध्यम से टटोलते होते हैं और जिसे वे बड़े ही अनियोजित ढंग से इधर-उधर उछालती चलती हैं। इस क्रम में कोई विकास भी हो सकता है…भले ही वह बाहर से सिर्फ इतना ही दिखे कि लेखक जीवन का एक हिस्सा, वर्ग या पक्ष आदि छोड़कर दूसरे पर जा रहा है। इस क्रम को पहचानते चलना जरूरी है जैसे कि किसी शहर की रूह मे पैठने के लिए सिर्फ 'डे-टूर' पर्याप्त नहीं होता!

लेखकीय सोच का यह बड़ा सिलसिला रचनाओं के पहले पूरा

हो सकता है (जैसा कि राजनैतिक विचारधाराओं में विश्वास रखने वाले लेखकों के साथ अक्सर होता भी है)—पहले विचारों/विश्वासों को साफ कर लिया जाये ताकि फिर उन्हीं को ढोती हुई रचनाएँ आयें। एक सोचना रचनाओं से अलग पर समानान्तर, उनसे खुद को स्वतन्त्र रखते हुए भी हो सकता है···जैसा कि कवि/कहानीकार निबन्धों में करते दिखते हैं। तीसरा सोचना रचनाओं के बीच-बीच भी होता चल सकता है···कहीं बीच में रुक जाना और इस बीच आयी हुई रचनाओं में उस सोच को ढूँढना, जो रचनाओं में अनायास ही व्यक्त हुआ है उसे पहचानना। यहाँ पहले वर्ग की तरह सोचना विश्वासों से नहीं आता इसलिए वह ज्यादा खुला होता है···और न ही यह दूसरे वर्ग की तरह उस हद तक सायास और हवाई ही होता है।

मुझे इस तरह रचनाओं को मुड़कर देखना और उनमें से कुछ बीनना अच्छा लगता है।

कह सकते हैं कि इस तरह लेखक सिर्फ अपनी रचनाओं पर टिप्पणी करने के अलावा और क्या कर सकेगा। सिर्फ यही भर हो तब भी क्या खराबी है! अगर रचना प्रकाशित होते ही लेखक से अलग अपनी एक अस्मिता बना लेती है तो फिर उस पर लेखक की टिप्पणी · दूसरों की टिप्पणी से अलग कहाँ है···उल्टे, उसे रचना से एक अन्तरंग पहचान का फायदा है। यों, टिप्पणी—लेखक की हो या बाहर की—एक-पक्षीय···इसीलिए सदा अधूरी होती ही है।

ऐसा क्यों हुआ कि इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ उस क्षेत्र की हैं जिसे आम भाषा में राजनैतिक तक कहा जा सकता (मेरे अपने मतभेद के बावजूद : मेरे लिए तो यह सब सिर्फ यथार्थ है···जो आज इतना 'मिक्स्ड' है कि उसे अलग-अलग खेमों में रखकर नहीं देखा जा सकता)। मैं कोई पेशेवर राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं हूँ कि खुद को इस क्षेत्र का विशेषज्ञ समझूँ। कोई ऐसी ग्रन्थि नहीं है कि हर जगह बस वही वह देखता फिरूँ। बात इतनी आसानी से भी नहीं कही जा सकती कि इधर यह दुनिया ज्यादा देखने का मौका मिला···इसलिए। थोड़ा सही यह हो सकता है कि यह जमाना वह रहा जब राजनीति दूसरी सभी चीजों पर

रौंदती हुई चढ़ बैठी थी। शायद असल और बुनियादी बात यह आक्रोश है हर स्थिति में जिसकी टकराहट कहीं-न-कहीं उस चीज से हुई जो 'राजनीति' शब्द में रूढ़िबद्ध हो चुकी है। सुनने में रोज आता भी है कि आज जीवन के हर पहलू में राजनीति घुसी हुई है। सामाजिक यथार्थ का ढाँचा भी बहुत-कुछ राजनीति ही निर्धारित करती है। हमारे रोज-ब-रोज जीवन पर कहर ढानेवाली यह राजनीति अपने-आपमें एक संस्था है, जीवन-प्रणाली है जिसके अपने कायदे-कानून हैं और जो समाज को मरोड़ते समय उस रूप में नहीं आती जिसमें यह एक धन्धे के रूप में होती है…

पर चूंकि उसका असल रंग धन्धेवाली राजनीति से आता है इसलिए इस धन्धे और उसकी नजदीक से नजदीक परिधिवाली लकीरों को उकेरना भी जरूरी है, 'धांसू' जैसे सौ प्रतिशत पेशेवर और पचास प्रतिशत राजनैतिक चरित्रों से मिलना भी जरूरी है—जो शायद इक्कीसवीं सदी के भारत का एक आम पात्र हो जाये—और भी ज्यादा मगर हमें यथार्थ की एक समवेत पहचान बनानी है…सिर्फ पहचान और ज्ञानवर्द्धन की बात नहीं है, हमारा बुनियादी कष्ट भी तो यही राजनीति है !

लेखन के स्तर पर यहाँ एक भ्रान्ति फैली हुई है (यह स्वयं राजनीति है !)। दो जार्गन्स हैं—'दृष्टि' और 'राजनैतिक समझ' जो एक ही बात को अलग-अलग मौकों पर कहने के लिए हैं। किसी भी स्तर पर राजनीति को उठाने के लिए आपको एलानिया बताना होगा कि आपका 'स्टैंड' क्या है…मतलब, आप दायें हैं या बायें…बायें हैं तो कितने बायें…और जब तक आप अपने बारे में यह नहीं समझाते तब तक आपके पास दृष्टि नहीं है। अगर आपने उपन्यास या कहानी में शक्तियों का बँटवारा दायें-बायें, शोषक-शोषितों में नहीं किया है तो आपमें राजनैतिक समझ नहीं है।

मैं यह या किसी समझ का दावा नहीं कर पाता…मैं तो उसे लगातार जीवन की स्थितियों में ढूंढते रहनेवाली चीज मानता हूँ…लेकिन उस मोटे चिन्तन पर एक मोटी-सी बात जरूर चिपका सकता हूँ। प्रतिबद्धता बुनियादी तौर पर लेखन से है तो एक बात साधारणी

की हद तक खींचकर कही जा सकती है—लेखक हमेशा खुद को कष्ट झेलते, पिसते, दुख सहते हुए वर्ग के साथ ही पायेगा। यह उसकी नियति है जैसे कि सत्य, न्याय, ईमानदारी का पक्षधर होने के अलावा कोई और चारा नहीं है। मजेदार बात यह है कि इस बिन्दु पर विशुद्ध मानवीय यन्त्रणावाले और क्रान्ति की आग बरसानेवाले—दोनों तरह के ही साहित्य मिलते हैं। पहली श्रेणी का साहित्य अन्ततः ईमानदारी में फिर भी बाजी मार ले जाता है। भारत में आपातकाल की घोषणा के पहले-पहले तक दूसरी श्रेणी के साहित्य का फैशन खूब चल निकला था, लेकिन उसका जो खोखलापन 'इमर्जेन्सी' ने बजाया उससे कम-से-कम आगे आनेवाली हिन्दी साहित्य की कई पीढ़ियाँ तो अब वैसी बलबलाहट के नजदीक नहीं ही जायेंगी।

मानव-यन्त्रणा पर जोर देनेवाला साहित्य लेखक से यन्त्रणा को उतारने को तो कहता है लेकिन उधर से आँख मूँदने को भी कहता है जिसकी वजह से वह यन्त्रणा है। उसके अनुसार यह समाजशास्त्री का काम है। इसीलिए इस तरह के लेखन से अधूरेपन की शिकायत बराबर होती रहती है'''जैसे कि लेखक यथार्थ की झलक मात्र लेकर वापस भाग लेना चाहता है। मेरे खयाल से यथार्थवादी लेखन के इस युग में लेखक को उसमें भी पैठना होगा'''विसंगतियों की यन्त्रणा चित्रित करने के आगे उन बातों और चरित्रों में भी जाना होगा जिनकी वजह से विसंगतियाँ हैं। समाजशास्त्री के विश्लेषण में वह 'पैशन' नहीं होती। जब एक रचनाकार अपने संक्रियात्मक आक्रोश और 'पैशन' के साथ उस क्षेत्र में घुसता है तो वह एक तरफ तो मानवीय यन्त्रणा के रंग को गहराता है और दूसरी तरफ उस यन्त्रणा की जन्मदात्री शक्तियों का नकाब उतार उनके खिलाफ जनमत तैयार करने में भी मदद देता है। यहाँ न मानवीय यन्त्रणा के साहित्य का अधूरापन कचोटता है और न ही क्रान्तिकारिता का खोखलापन बजता है।

अपनी लेखकीय नियति की वजह से मेरा ताल्लुक राजनैतिक शक्तियों के पारस्परिक तनाव या सन्तुलन से उतना ही है जितना किसी भी चीज '''या कि हर किसी चीज से है। मेरा असली ताल्लुक तो उस राज-

नीति से है जो आदमी को मारती है—और वहां हर दल की मार एक-सी है···यहाँ तक कि उन गैर-दलीय आदमियों की भी जो जनता की सेवा के विकार से पीडित होने के कारण तन्त्र की मार मारते है ('जन-तन्त्र') । इसीलिए यह मेरी समझ के बाहर की बात है कि सिर्फ सत्ता मे दल-परिवर्तन के साथ लेखकीय नजरिये में कहाँ से फर्क आ जाता है···या कि लेखक की लडाई किसी विशेष राजनैतिक दल या विचार-धारा-भर से ही कैसे हो लेती है।

कह नही सकता कि कथा-साहित्य को आज के यथार्थ को पूरा उकेरने मे 'सैटायर' के कितना पास आना होगा···और वहां भी व्यंग की धार कितनी पैना करके। या कि यह भी ज्यादा कुछ नही सिर्फ मेरे लेखन का एक और दौर है···अगले कहानी-संग्रह में शायद कोई और जमीन तोडता नजर आऊँ।

गोविन्द मिश्र

ए २७३७, नेताजीनगर,
नयी दिल्ली
११ दिसम्बर १६७७

क्रम

धाँसू

जन-तन्त्र

वे कहते हैं कि तुम मौका चूक गये। तुमको मौके पे बता देना था। जुबान बस जरा-सी खोलनी थी। सिर्फ कह देना था— 'मारो'···फिर देखते इस जिले की नम्बरदारी। फिर एक बार की बात हो तो दूर, तीन-तीन मौके आये और सभी हाथ से निकल गये। कमबख्त जुबान ही नहीं खुली। हुआ क्या ? अरे, पूरा पांसा ही पलट गया। इससे बड़ा नुकसान और क्या हो सकता है···मेरी जुबान खुलते ही उमका सफाया कर दिया जाता। यूँ हर वक्त बोलता रहता हूँ, पर ऐन वक्त पर मुँह सिल गया। पूरे दस अपने साथ थे, दो हवलदार भी। उनके पास बन्दूकें भी थीं। आगे क्या होता···यह सोचने की बात नहीं थी, भाई! बाद में क्या होता है, कुछ नहीं। जो हो गया, हो गया। वे जो हमारे साथ थे, उनके पास बन्दूकें थी, फिर किस बात का सोचना था ! यूँ अगर हर कतल पर सजा होने लगे तो कतल होने न बन्द हो जायें। बिना कतल के कहीं चल सकता है। फैसले कैसे होंगे, मामले उलझे न बने रहेंगे। कचहरियां तो सालों-साल लगा देती है। लाठी किस दिन के लिए होती है। कलट्टर के टाइप बाबू कहते हैं जाने कितने कलट्टर उनकी टाँग के नीचे से निकल गये, शुरू में जो आता है कहता है, फौजदारी कम करा देंगे, आज-कल तो कल के लौंडे कलट्टर बनाकर भेज दिये जाते है, कुछ ही दिनों में ठण्डे होकर तबादले के लिए लखनऊ दौड़ने लगते है, जिले की नम्बर-दारी कोई आज की है···। पर मैं किसकी कहूँ, जब साला अपना ही मुँह न खुला ! अब तो सारा दल का दल ही पलट गया। वे कहते हैं···बद-माश साले तुम्हीं हो, तुम उनसे मिले हुए थे, हमारी पोजीशन फाल्स

करा दी, तुमको ही मार दिया जाना चाहिए। वे सब मेरे पीछे पड़ गये हैं। वे कौन? अब लो राम कौन, रावण कौन। भई चारों जिले हैं··· जिले और कौन होते है। बाँदा, हमीरपुर, फतहपुर और कानपुर, यह चार ही तो है। कानपुर में वह है न राजेन्द्र के भाई···फुल्लन, आये थे। कहते थे यह साला नम्बरी खोज खवाउन है। बीवी खो दी, घर बेच दिया, सारी कमाई लुटा दी। बाई हामी भरती है 'भइया अपने पूत से पूत होते तो काहे खाँ'। वह अपने मरण के लिए पैसे जोड़ती है···जिससे उसका दाह-करण किया जा सकेगा। नत्थू पानवाला कहता है जब तुम्ही में तत्त्व न था तो तुम्हें ब्याह ही न रचाना था, वरना यह जिला···मजाल है यहाँ आयी औरत को कोई ले जाये। लाठी किस दिन के लिए भाँजते हैं। तुम्हीं दोमते निकल गये, तो लठैती धरी की धरी रह गयी। शिक्षा सुपरडेंट ने कहा, भाई घी-दूध खाया-पिया करो, चाय न पिया करो। सहायक मास्टर से भी कह दिया कि इनकी तनख्वाह से इन्हें शुद्ध घी और बादाम खरीदवा दो। दिन-भर में एक किलो, दो किलो दूध ही पी डाला करो, क्या फर्क पड़ेगा। कब के लिए बचाना है? सत्ते कहता है कि मास्टर, सब यही रखा रह जायेगा। सबको मेरी तन्दुरुस्ती की चिन्ता है···रबड़ी खाओ, बादाम का हलुआ खाओ। भई पैसे भी तो चाहिए। वे कहते हैं जैसे उधार लेकर मामा को और उसे खिलाते थे, वैसे ही खुद खाओ।

वे सब-के-सब लगे हुए है। वही पूरा दल-का-दल। पुलिस उनके साथ है। हर चौराहे पर यह जो सिपाही देखते हो, उन्होंने ही तैनात किये हैं। चौबीसों घण्टे मुझ पर निगरानी रहती है। भई ड्यूटी बँधी है— इस चौराहे से उस चौराहे तक जाते वक्त इधरवाला सिपाही, उसके बाद से उस चौराहे का सिपाही। कहते है कि तुम्हें मार डाला जायेगा। मैं कहता हूँ कि मार डालो, अच्छा है छुट्टी मिलेगी। वे कहते हैं तुम्हें मारकर क्या मिलेगा, बन्द करा देना चाहते है। हर चोरी मे मेरा नाम भेजा जाता है। पार्वती कने चोरी हो गयी, पायल चली गयी···अब देखना, नाम मेरा लगाया जायेगा। बाबूलाल का बैल मैंने चुराया था। मैं कहता

हूँ ठीक है। बन्द करा डालो, अच्छा है बैठे-बैठे खाने को मिलेगा, पर वे बन्द नहीं कराते। कहते हैं तुम्हें शहर से बाहर निकाल दिया जायेगा। मैंने कहा, भइया जहाँ पढ़ाने जाता हूँ वह स्कूल शहर से बाहर है। वे कहते हैं बाहर निकालकर *तुम्हारी करतूतों को कौन याद रखेगा'''तुम्हें यहीं रख कर घिसा जायेगा।* मैंने कहा, भइया मैं खुद बाहर चला जाता पर यह नौकरी इसी शहर की है। तबादले भी साले इसी चौहद्दी के अन्दर-अन्दर होते हैं। वे कहते हैं, यह सब तो ऊपरी इन्तजाम है, तुम्हारी नौकरी तो कब की छूट चुकी। पागलों को कोई नौकरी पर रखता है! शिक्षा सुपरडेंट कहता है—'यार, लोग तुम्हें पागल कहते है पर तुम्हारे स्कूल का रिजल्ट हमेशा शत-प्रतिशत रहता है।' अगर मेरा दिमाग खराब है तो वे मुआयने में मेरी गलती क्यों नहीं निकाल पाते! असल में सब मिले है। शिक्षा सुपरडेंट उनका है। प्रभारी अधिकारी भी उन्हीं का आदमी है। उनका जो चपरासी था वह आ गया है अब हमारे स्कूल में, सारे किस्से बताता है। क्षितिज बाबू म्यूनिस्पेलिटी के मेम्बर थे और शिक्षा के इन्चार्ज थे। खूब पैसा कमाया था। जब बोर्ड टूट गया तो सारी फाइलें प्रभारी अधिकारी को मालूम हो गयी। क्षितिज बाबू अब मस्का लगाते रहते हैं। वे नहीं चाहते कि पोलें खुलें और अगला चुनाव गड़बड़ाये। भई पूरा का पूरा दल है उनका, लगा हुआ है। भारत के जितने लँगड़े-लूले हैं सब मुझे दिखाये जाते है। मेरे स्कूल के सामने फौजदारी करा दी जाती है। मैं तो स्कूल बन्द करा देता हूँ। मेरा सहायक कहता है कि आप हेडमास्टर हैं, जब चाहें स्कूल बन्द करा सकते हैं। वह चाहता है कि इसी तरह मेरी शिकायत हो जाये और मैं अलग कर दिया जाऊँ, ताकि वह हेड हो सके।

, *वे कहते हैं, तुम मौका चूक गये, साले को तीन बांस दिये, किसी* बार उँगली से ही इशारा कर देता। नत्थू कहता है—'मास्टर साहब, आप दिल्ली चले जाइए'''मैं क्यों जाऊँ दिल्ली, जब दिल्ली से ही यहाँ लोग आते हैं! पिछले महीने ही जाने कितने मन्त्री आये। बड़ी-बड़ी मीटिंगें करते हैं, लाउडस्पीकर पर बोलते हैं। महँगाई हटाने के लिए जनता का साथ चाहते हैं। मैं तो कितना चाहता हूँ कि मेरा कोई साथ

ले। लेकिन पुलिसवाले रूल से एक तरफ कर देते हैं···'रास्ता रोके क्यों खड़े हो, जी ?' एक-से-एक नेता आते हैं। भई वे सब बुलाते हैं, उनकी सांठ-गांठ दिल्ली तक है। मुझे क्या, चलो अच्छा है। मेरी वजह से ही सही इन बड़-बड़े लोगों को यहाँ आने की फुर्सत तो मिली। घर बैठे मैं भी इन बड़ी-बड़ी हस्तियों को देख लेता हूँ। काले बाबू कहते हैं कि असली बदमाश साले तू ही है। तू ही उसे अपना रिश्तेदार कहता फिरा, मामा बनकर वह तेरे घर रहता रहा और तेरी बीवी के साथ गुलछर्रे उड़ाता रहा और तू कमा-कमाकर चुनकौना के यहाँ से दोनों के लिए दूध-मलाई लाता रहा। मैंने कहा, काले बाबू आपकी लैटरिन मेरे दरवाज़े पर खुलती है। गुंगरिया इधर-उधर मैला बिखेरती है। कम-से-कम लोहे की एक पट्टी ही गिरवा लो। नहीं, उनके घर में बदबू भरेगी। काले बाबू कहते हैं, तुम्हे साले बेहिसाब जूते पड़ेंगे। और वे···? वे कहते हैं, जब न इसकी बीवी है, न घर है, न नौकरी है तो जूते तो पड़ेंगे ही। सामने के महल से जज्याइन भी ऊपर से ताकती रहती है···भई सब मेरे खिलाफ मैटर इकट्ठा करते हैं।

वह कहती है कि तुम अपनी बहन को रखे हो। दो को कैसे रखोगे, सारे पैसे उसे दे आते हो। मेरी बहन मेरे बुढ़ापे के लिए पैसे जोड़ती है—वह कहती है, 'पैसे घर रखोगे तो बीवी-मामा उड़ा ले जायेंगे··· वे दोनों पूरी गृहस्थी ढोकर ले गये और तुमने किसी को खबर भी न होने दी···एक टाठी-लुटिया भी न छोड़ी···तुम्हें भिखमगा बना दिया।' वे कहते हैं तुम्हारी बहन को कतल कर दिया जायेगा। इसी-लिए तो मैं हर सुबह जाकर उसे देख आता हूँ कि चलो आज तो कुछ नही हुआ। मैं रात को बाहर नही निकलता। वे मुझे जरूर मार डालेंगे। मैं चक्कर में हूँ कि वे दिन मे मारें। मैं उन्हे पहचान तो सकूँगा। वे कहते हैं कि तुम पुलिस में क्यों नही लिखवाते कि तुम्हें जान का खतरा है। मैं बेवकूफ हूँ जो लिखवाऊँ, सारी पुलिस उनकी है। कल के दिन कुछ हो गया तो कहेंगे जब तुम्हे यह सब मालूम था तो···वे कहते हैं कि मैं मामा के खिलाफ मुकदमा क्यों नही ठोंक देता···क्या होगा ? यहाँ का सारा वकील समाज मिला-जुला है। सिर्फ मुकदमे के

वक्त दिखाने के लिए ग्रामने-सामने जरूर खड़े हो जाते हैं। अब पैसे भी दो, दुलत्तियाँ भी खाओ।

वे मेरे रास्ते में बड़ी अड़चनें डालते हैं, जो मिलेगा नमस्ते करेगा। कोई-कोई तो भुककर नमस्ते करते है, पर बात करने की फुरसत किसी को नहीं है। मैं बात करना चाहूँ भी तो कोई बात नहीं करेगा। स्कूल में लड़के कहते हैं—"मास्टर साहब, अच्छी स्वतन्त्रता मिली, महँगाई बढ़ती जा रही है।' मैं समझाता हूँ कि भई स्वतन्त्रता तो अच्छी चीज है, अब तुम्ही लोग मारपीट करते हो तो मैं क्या करूँ! अभी धर्मपाल मास्टर मिले थे, मैंने उनसे कहा—'माट् साब, लोग कहते है कि तुमने जिसे ट्रेनिंग दी वह गधा है, तुम्हें कुछ नहीं ग्राता।' माट् साब कहते हैं—'बकने दो सालों को। तुम अपनी गैल चलो···तुम्हें ट्रेनिंग एकदम ठीक दी गयी है।'

कुँग्रर छैलबिहारी सिंह, वकील है···दिखाने के लिए, भई, राजा लोग हैं, जब कचहरी में गोली चल गयी थी, कुछ मर-मरा भी गये थे··· तो रामलीला मैदान की मीटिंग मे वह रोये थे, सबके सामने। पर मुझे देखते ही डाँटने लगते हैं···'साला नम्बर एक का उचक्का है। इसकी बीवी को उस ग्रादमी के साथ मेरे नौकर ने खेत मे पकड़ लिया···मैंने उन दोनों की अच्छी धुनायी करायी। ग्रादमी को शहर के बाहर खदेड़वा दिया। लेकिन यह ससुरा कि एक महीने बाद दोनों को फिर घर मे रखे था···उस मामा के बच्चे को तो मैंने कह दिया कि साले, तुम्हारी छाया अगर फिर इस शहर मे दिखायी दी तो चमडी उधड़वा दूँगा···पर बीवी को तो इसे ही फटकार कर भगाना चाहिए···उसे क्या···मामा के साथ इसकी सारी कमाई चट कर गयी···अब जब भूखों मरने की नौबत ग्रायी तो फिर खसम की याद ग्रायी···पर यह साला उचक्का है उचक्का··· कुएँ मे गिर जायेगा ग्रौर नीचे तैरता रहेगा। रात-बिरात मुहल्लेवाले हैं जो जायें ग्रौर उसे खीचकर बाहर निकालें। डिरामा करता है···' मुहल्लेवाले···? मैंने तो बुलाया नहीं था। भई यह सब समझते नहीं। बात सुने कोई तो समझे। भोले गुरू···वह जो म्यूनिसिपेलिटी के चेयरमैन थे, वह मेरी बीवी को अपनी दुकान मे नौकरी देना चाहते थे।

देविन दरवाज़े पर वह जो बड़ी-सी मिठाई की दुकान है, उसमे। वह कहते थे कि उसके हाथ में रसायन है। पकवान बनाये, तनख्वाह ले। महँगाई के दिनों दोनों कमायें यही अच्छा है। इसने मना कर दिया। कहती थी—"मिठयों के यहाँ कौन नौकरी करे।" गुरू ने मुझे बुलाया। मेरा म्यूनिस्पेलिटी का स्कूल, वह मेरे सबसे बड़े आफीसर आदमी···। मैंने कहा—"गुरू जी, मैंने तो उसे मना नहीं किया।" वह बोले—"तुम्हें नौकरी से निकाल दिया जायेगा···।" अब मैं तो ट्रेण्ड हूँ, कितने मास्टर ऐसे भर लिये गये हैं जो ट्रेण्ड नहीं है···मेरा तबादला बस्ती के बाहर के स्कूल मे कर दिया गया। वे कहते है कि अँधियारे-उजियारे तुम्हें साफ करा दिया जायेगा। मैंने उससे कहा कि गुरू की नौकरी कर ले। वह बोली कि मैं कैसा मुन्स हूँ कि बीवी को राक्षसों में ढकेलता हूँ।

वह मामा को हम दोनों की हिफाजत के लिए मायके से ले आयी। मैंने कहा, मुझे कोई डर नहीं है, मुहल्ला मेरे साथ है···मामा की क्या जरूरत है···खर्चा बढ़ता है। पर वे मुझे दाबते गये। वह मामा की तरफ हो गयी। कहती थी—"तुम तो जैसे पागल हो, क्या समझो···वे तुम्हारे पीछे पडे हैं ··हमें अपनी हिफाजत करनी चाहिए···" मामा से मेरी एक बार बकझक हो गयी। तब से वह छुरी से बात करने लगा—"साले, इसकी धार देखी है···जैसा हम कहते है वही करो और खबरदार जो किसी से कुछ कहा···" गुरू ने कहा—"मास्टर, तुम शहर मे गन्दगी फैला रहे हो···सफाई कराना भी म्यूनिस्पेलिटी का काम है···हमारे स्कूल के मास्टर ऐसे नहीं होने चाहिए···तुमने आचरण नहीं बदले तो ठीक नहीं होगा।" भई यह सब पूरा चक्र है, खिरिर-खिरिर घूमता रहता है। मामा की बात मैं नहीं कह सकता। गुरू के बारे मे मैं कुछ नहीं कह सकता। कुएँ मे तो कूद ही सकता था। मैंने कहा—"लो अब समझो···" तैरता रहा? तैरना आता था तो तैरता रहा। मुहल्लेवालों ने निकाला और निकालते ही सब गालियों से पिल पडे—साला साबुत निकल आया। अरे भई, तो *निकाला ही क्यों? निकाला था तो* समझते भी। मैंने सोचा था वे समझ जायेंगे पर वे गालियाँ देने मे लगे हुए थे।

वे कहते हैं, तुम्हें उस औरत के साथ नही दिखना चाहिए। मैं कहता हूँ, वह बीवी तो मेरी है, किसी और की बीवी तो नही है। खराब या अच्छी वह हमारा मामला है। वे कहते है, उसकी वजह से बस्ती मे गन्दगी फैलती है, लड़कियों पर खराब असर पडता है। मै कहता हूँ कि सिद्धेश्वर वकील की बीवी सिद्धेश्वर के भाई को शादी क्यो नही करने देती, परमेश्वरी सिंह की लडकी कालेज के द्विवेदीजी से ही क्यो पढने की जिद करती है, उनके लिए सुएटर क्यो बुनती है। वे कहते हैं कि तुम्हारा दिमाग खराब है, कोठियो से नीचे बात ही नहीं करते। सोचते-सोचते ही खराब हुआ है। मैं कहता हूँ मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है—दर्जा पाँच की किताब में लिखा है। वे ही मेरे बारे मे इतना क्यो सोचते हैं? डाक्टर साहब कहते है, तुम्हें सोचना न चाहिए। अब गालियाँ वे दें, हर वक्त बात भी वे करें, मेरी कोई सुने नही और मैं सोचूं भी नही। भई चलता-फिरता हूँ तो कुछ तो करूँगा सही। डाक्टर कहते हैं—"तुम सोचोगे तो तुम्हें बिजली के शॉक लगाये जायेंगे। तुम पागल नहीं हो···।" मैंने कहा "डाक्टर साहब, यही तो मै कहता हूँ, पर वे··· वे कहते हैं कि हो···अब आप ही फैसला कर दीजिए।"

वे कहते है, असल हरामी साले तुम्हीं हो। सबको चरा रहे हो। बीवी तुम्हारी कोई और सँभाले, घर का मुकदमा कोई और लड़े और तुम आराम से डोलते रहो, पृथ्वीमाता के दामाद बने हुए। तुम चाहते हो यह पूरी बस्ती सिवा तुम्हारे बारे में सोचते रहने के और कुछ न करे। उसका ध्यान तुम पर से जरा हटा कि तुमने कोई नया गोल-गपाड़ा खड़ा कर दिया। कभी बीवी को भगा दिया, कभी रख लिया, कभी कुएँ में कूद गये, कभी पागल बन गये···मुहल्ले ने जैसे तुम्हारे बाप का ठेका ले रखा है। मैं कहता हूँ कि ठेका तो ले ही रखा है। छक्के ने कहा—'मास्टर, तुम अकेले रह गये हो···इतने बडे घर का क्या करोगे, मन्दिर में रहो और घर को किराये पर चढा दो···किराया भी दूंगा और मामा के खिलाफ मुकदमा भी मुफ्त लड दूंगा···तुम्हारी एक बैठे-बैठे की आमदनी भी बन जायेगी···।" वह घर घुम पाया कि मुझे ही डराने-धमकाने लगा—"मास्टर, घर से तो अब मैं तुम्हारी ज़िन्दगी में

निकलूँगा नहीं, चाहते हो कि कुछ पैसे मिल जायें तो कुछ ले लो और रजिस्ट्री करो।" छक्के के पास पैसे कम हैं क्या ? भई अगला चुनाव लड रहा है।···शीतल ने कहा कि मास्टर, तुम्हारा मकान अब गया···अब गया·· मैंने कहा, अब क्या होगा शीतल भैया। वे बोले, ब्राह्मणों के काम आ सकता है। असल ब्राह्मण हूँगा तो देखता हूँ धोबी कैसे तुम्हारी जायदाद ले जाते है, हाईकोर्ट तक कचहरी मचा दूंगा···लेकिन दस्तखत तुम से कहाँ-कहाँ कराता फिरूँगा···मुकदमे की खातिर तुम्हे मकान मेरे नाम लिखना होगा। मैंने कहा—और शीतल भैया, अगर तुम्हीं दाब गये तो···वे बोले—ब्राह्मण ले जाये तो फिर भी दान है···

वे कहते है, तुमने अपना मकान शीतल को क्यों लिख दिया। मैं कहता हूँ, मकान वैसे ही कब मेरा रहा था। फिर समाजवाद मे तो हर चीज समाज की है। सरकार सबको एक मकान देगी। जिनके एक से ज्यादा होंगे, छीन लेगी। छक्के के दो मकान हैं और शीतल भैया के तो खैर अनगिनन हैं। मेरा मकान जाता कहाँ है ! हर चीज जनता की है। मैं भी जनता का हूँ। भई, लडका-बच्चा कोई है नहीं। मरने पर फूँकेगी भी जनता ही। क्यो न···?

कुँअर साहब कहते है, तुम साले दोगले हो···फिर उसी कुलच्छिनी को घर बिठाने की फिराक में हो। मैं कहता हूँ, फद्दे का भाई लच्छमी पागल हो गया तो फद्दे उसे जंजीर मे बाँधकर कमरे मे बन्द रखता है··· लच्छमी की बीवी उसके लिए रोटियाँ ले जाती है, दोनों समय। वह बाहर निकलता है तो लौंडे-लपाडे उस पर पत्थर बरसाते हैं। भई सवाल ये है कि और सब बन्दोबस्त तो उन्होंने कर दिये, असली चीज भूल गये। मुझे रोटी भी तो चाहिए···बुढापे में तो और भी।

यह जो हवाईजहाज जा रहा है न, उनका ही भेजा हुआ है···तुम नही मानते···अरे वह परमेसरीसिह वकील जो है, उनका लड़का हवाई-जहाज मे गया है···गया थोड़े ही है, भेजा गया है।

बहुधन्धीय

कोठी पुरानी थी, पर दरवाजे पर बाहर लटकी हुई तख्ती नयी··· ताजी-ताजी—पद्मश्री श्री पुलकराज। नाम के आगे उपाधियों की लम्बी कतार, आखिर में जाकर आचार्य···जिस नाम से वे जाने जाते थे। बाहर लॉन की हरी गद्देदार घास, सीढ़ियों पर गमले और हरी-हरी लतरें, चारों तरफ महकते फूल। एकदम बाहर चमचमाती एम्बैसडर को ड्राइवर और भी चमकाने में लगा हुआ था।

सबकुछ धुला-धुला···उजला, पर चौकस सफेदी में दबाया गया। कोठी का पलस्तर जहाँ-तहाँ से उखड़ता हुआ दिखायी देता था। पड़ोस के घर से कोठी को अलग करती हुई मेंहदी की कँटीली झाड़ थी जो इधर से सिंची हुई और चिकनी, पर ऊपर और दूसरी तरफ से धूल का कसैलापन छोड़ती थी।

एक छोकरे-जैसे नौकर ने दरवाजा आधा खोला।

"आचार्यजी हैं ?"

"आप कौन ?"

"रोहित-श्री"

"देखना पड़ेगा।"

दरवाजा फिर बन्द हो गया। रहनेवाला एक अदद आदमी···पर देखना पड़ेगा, नौकर को हर बार देखना पड़ता है। यह मिलनेवाले के नाम पर निर्भर करता था कि *आचार्यजी घर पर होते हैं या नहीं।* अगर उन्हें नहीं होना हुआ तो नौकर हाथ में एक कागज की गड्डी और पेन्सिल लिये बाहर आयेगा, मिलनेवाला पुर्जे में घर पर छूट जायेगा

अगले दिन सुबह की झाड़ू के साथ बाहर बुहार दिये जाने के लिए।

इस बार दरवाजा पूरा खुला—"पूजा पर बैठे हैं···आप बैठिए।"

हॉल था। मोटे गद्देदार सोफे, जमीन पर दरी, ऊपर जूट की कारपेट, बीचोबीच एक कीमती लाल गलीचा···अन्दर की तरफ कोई बीस कुर्सियोंवाली एक खाने की मेज जिसे अन्दर जाते हुए नौकर ने पर्दा खींचकर ढक दिया।

टँगे फोटो दो ही थे—एक गांधीजी का, दूसरा प्रधानमन्त्री का। पहला सादा, दूसरा रंगीन। एक किनारे बुकशेल्फ पर सफेद फ्रेमों में बँधे दो-चार छोटे फोटो खड़े थे—आचार्यजी राष्ट्रपति के साथ, आचार्य जी प्रधानमन्त्री के साथ, आचार्यजी के कन्धे पर हाथ रखे हुए एक और महत्त्वपूर्ण मन्त्री।

नमस्कार करते हुए आचार्यजी पर्दे के पार से प्रगट हुए—बुलन्द आवाज, गौर वर्ण, तेजस्वी चेहरा—नहाया-धोया, खिला हुआ, साफ-सुथरे हाथ एक-दूसरे को घिसते हुए। अपनी संस्कृति के अनुरूप वे सिर्फ हाथ जोड़ते थे, सबके हाथ इतने साफ भी नहीं होते कि मिलाने लायक हों। लकालक खादी का कुर्ता, धोती और जाकेट। कपड़ों को पहनने के बाद भी अगर इस्त्री की जा सकती तो शायद वैसे होते···एक भी शिकन नहीं।

सामने के सोफे पर आ विराजे···एक सम्भ्रान्त मूर्ति। "कहिए रोहितजी, रेल स्ट्राइक तो जोर पकड़ रही है?"

"जी हाँ, खबर तो ऐसी ही है।"

"मेरी प्रधानमन्त्री से कल भेंट हुई थी। मैंने तो उनसे कह दिया कि इस बार आपको कड़ा रवैया अपनाना चाहिए···यह क्या हुआ कि चन्द लोग पूरे देश की नकेल खींचकर अपने हाथों में ले लें?"

आचार्यजी चिन्तित हो गये थे, बड़ी आसानी से हो जाते थे—हथेली दायें गाल से आ चिपकी थी, चिन्तन की राष्ट्रीय मुद्रा में।

"सख्ती तो की ही जा रही है।"

"ऐसा क्या? रेलमन्त्री तो कहते थे कि यह सब विपक्षियों का प्रचार है, अखबारवालों की माया है।"

"अब माया तो है ही, अखबार की या सरकार की। आज तो उन सब कर्मचारियों के नाम-पते भी हैं जिन्हें बर्खास्त कर घर के बाहर खदेड़ दिया गया है···आपने देखा होगा।"

"हाँ···हाँ, मैं बात उठाऊँगा···आप कौन ?"

"आचार्यजी, यही है श्री, गरीब घर का लड़का है। बी० ए० करना चाहता है···अगर कहीं नौकरी लग जाये तो रात के कालेज का खर्च भी निकाल लेगा।"

"मेधावी लड़कों के लिए तो मेरे मन में हमेशा से ही बड़ी श्रद्धा है। सबको पढ़ाना-लिखाना भी बेकार है, सिर्फ इन्ही को उच्च शिक्षा मिलनी चाहिए·· बोलो, किसे फोन कर दूँ···"

"यह तो आप ही जानें, आपने तो इन्हें आज यहाँ ले आने को कहा था।"

आचार्यजी कुछ क्षणों के लिए ऊपर उठ गये, सोफे पर उनका निश्चेष्ट शरीर-भर रह गया। हर महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की तरह उन्हें समाधिस्थ हो सकने का वरदान था···जब चाहे शून्य हो जायें।

कमरे में निस्तब्धता छाने लगी थी। सिर्फ आचार्यजी के नाखून घिसने की खुरुर-खुरुर की आवाज थी···जैसे चूहे पीछे से कोई किताब कुतर रहे हों···रोहित अखबारों में रेलमन्त्री की प्रतिष्ठा उछाल सकता है···रेलमन्त्री जगन्नाथन को रेलबोर्ड में ले सकता है···जगन्नाथन ?

"तो अब चलूँगा···"

रोहित के खड़े जुमले ने आचार्यजी को झिंझोड़ा··· वे कहाँ थे··· क्यों थे···चारों तरफ ये कौन लोग थे···वातावरण का अवलोकन करने लगे। रोहित उठ खड़ा हुआ था।

"मिलते रहा करिए···आचार्यजी ने कहा और खुद भी उठ खड़े हुए। चलते-चलते बोले—"यह जो आपके पत्र में रेलमन्त्री पर व्यक्तिगत किस्म की छींटाकशी हुई उससे वे बड़े दुखी थे, मुझे भी कष्ट हुआ··· आखिर मित्र जो ठहरे।"

"क्या था ?"

"यही कि रेलमन्त्री सिर्फ पैसे की राजनीति खेलते हैं।"

"बात तो सही थी।"

"ठीक है, ठीक है, लेकिन कुछ शिष्टाचार भी तो होता है। देखियेगा आगे।"

"श्री के लिए क्या आज्ञा है, फिर···?"

"ये···इन्हें छोड़ जाइए। आज इनका सत्संग हमी करें। कुछ लोगों से मुलाकात होगी ही···देखें इनकी तकदीर कहाँ ले जाती है।"

श्री का हौसला बढ़ आया था। नौकरी के सिलसिले में कितनों से मिलना हुआ था···ज्यादातर टालमटूली ही पल्ले पड़ी थी, लेकिन आचार्यजी सीधा काम से भिड़नेवाले दिखते थे। आज ही किसी से मिलेंगे, श्री को उसे सौंप देंगे और कल से उसका काम पर जाना शुरू···

रोहित को विदा कर आचार्यजी सीधा अन्दर चले गये···पर्दे पार। श्री अपनी जगह बैठ गया। थोड़ी देर में उसके सामने चाय का प्याला था···आचार्यजी नाश्ते पर बैठ गये थे। नाश्ता कर ही रहे थे कि घण्टी बजी। नौकर हमेशा की तरह पहले बाहर, फिर अन्दर गया। सरदार अमरीक सिंह···उसने सूचना दी।

"आफिस खोल दो, पर्दे ठीक-ठाक लगा दो, सब अधखुले पड़ रहते हैं।"

ड्राइंगरूम के बगल का कमरा ही आफिस था। इधर के पर्दे खींच कर दोनों को अलग कर दिया गया। दूसरे दरवाजे से सरदारजी सीधा आफिस मे। उधर आफिस का पखा फरफराना शुरू, इधर आचार्यजी की आवाज फोन पर जोर-जोर से बोल रही थी। फोन अन्दर था पर आवाज आफिस औ रड्राइंगरूम दोनों जगहों पर सुनी जा सकती थी, खासतौर से तब जब वह कुछ ज़ोर से निकाली जा रही हो।

अन्तरग-सी बातें···तरकारी-अचार वगैरह की।

फोन खत्म कर आचार्यजी सीधा आफिस मे घुस गये—"आप बड़े दीर्घायु है। अभी आपकी ही बात चल रही थी फोन पर। कल ही उसके यहाँ खाना खाया था···क्या बढ़िया खाना पकाती है उसकी पत्नी··· निरामिष भोजन का स्वाद आप लोग क्या जानें, बड़े—ही स्नेहिल जीव

हैं दोनों···कहते हैं उन्हीं के यहाँ रह जाऊँ···अब यहाँ का ताम-झाम कौन सँभालेगा···क्यों···"

"कृष्णचन्द कहते थे ?"

"नहीं, उनकी पत्नी भी···मंगल-सूत्र को फिर पूछ रही थी, साडियाँ और जेवर भी खरीदने हैं, भतीजी के विवाह मे जाना है। एक दिन बाजार लेकर जाना होगा। अब मैं साथ होऊँ और पैसे वे खर्चें ? यह तो चलेगा नहीं न···?"

एकाएक बातें बन्द हो गयी। पंखे की फरफराहट के नीचे जैसे कोई खामोश व्यापार चल निकला था। बाहर सडक पर भागते ट्रैफिक की कोई थरथराहट जब-तब अन्दर आकर खामोशी मे एक हल्की-सी कम्पन पैदा करके भाग जाती थी। आफिस में व्यस्तता थी।

थी···वह एक ऐसी बस्ती मे था जहाँ आदमियों के होने-जैसे निशान नदारत थे। सिर्फ आवाजें थीं···जो सड़क पर मशीनी ढंग से बहते हुए सोती रहती थी, बीच-बीच किसी खामोशी मे घुसकर व्यापार करने के लिये जाग जाती थी।

वह चाय के प्याले को इधर-उधर खिसकाने का खेल खेलने लगा।

"अच्छा भाई !"—आचार्यजी की आवाज थी—"स्वामी के यहाँ जाना है। वह विपक्षी दल का नेता क्या है, खुफिया है···जाने कहाँ से क्या-क्या बटोरता रहता है और फिर पटाखे को सीधा लोकसभा मे ले जाकर फोड़ता है। गवर्नर साहब का फोन आया था, इस बार निशाना वे हैं···जाकर उसे साधना पडेगा···गवर्नर साहब अपने बचपन के साथी है···उनकी बदनामी अपनी बदनामी···"

"आज की ही तारीख है, थोडा समय निकालकर हो आयें।"

"ठीक है, ठीक है···घर में सबका स्वास्थ्य ठीक है ?···हाँ, जाड़े आनेवाले हैं···थोड़ा बादाम, सूखे मेवे भिजवा देना भाई···यहाँ तो जनता की सेवा मे फुर्सत ही नहीं मिलती कि कोई अपने स्वास्थ्य का भी कुछ ख्याल कर सके।"

सरदारजी को आफिस से ही विदा कर आचार्यजी ड्राइंगरूम से फरफराते हुए सीधा अन्दर चले गये। थोड़ी देर बाद ही अचकन और

टोपी में सजे-सँवरे घबराये-से निकले, बार-बार घड़ी देखते हुए—"देर हो गयी। अरे ड्राइवर कहाँ गया···देखो फोन है, नाम नम्बर नोट कर लेना, कह देना गये, मन्त्रीजी का हो तो बुलाना, दौड़ो···अरे आपको कुछ नाश्ता भी नहीं रखा, इस नौकर को बुद्धि का अभाव है।"

तब कमरे में हरकत-ही-हरकत थी। कई तरह की बातें एक साथ करते हुए आचार्यजी बाहर निकल कार की पिछली सीट पर जा विराजे, श्री को भी बुला लिया। ड्राइवर भागा-भागा आया। "एयर पोर्ट··· अरे ऐ···किसका फोन था ?"

नौकर दौडकर आया बताने। आचार्यजी ने ड्राइवर को चलने का इशारा दिया, कार चल पड़ी।

आचार्यजी के दोनों हाथ दोहरी मुट्ठी में बँध तोंद पर आ बैठे थे और एकाएक कार के अलावा इर्द-गिर्द का सब-कुछ निश्चल हो गया था। फोन···क्यों था···क्या किया जा सकता था फोन की बात का और स्वयं फोन करनेवाले का···और भी न जाने क्या-क्या तोंद के अन्दर खुदुर-खुदुर पकने लगा था।

श्री आचार्यजी को यों गुमसुम बैठे देख रहा था—क्रीज और शुद्धता की साक्षात मूर्ति। आसपास धूल या गन्दगी का कोई नामो-निशान नहीं। इतने शुद्ध व्यक्ति के बगल में वह पहले कभी नहीं बैठा था।

"आप क्या करते हैं आजकल ?"

जैसे नींद से जागने के लिए उन्होंने पूछा। श्री को ताज्जुब हुआ ···थोड़ी देर पहले ही तो···

"काम की तलाश···" रोहित ने बताया।

"हाँ-हाँ···पढ़े कितना हो ?"

फिर वही बात। श्री के जवाब में अनचाहे ही खीझ निकल गयी। आचार्यजी नयी बात पूछने के लिए टटोलने लगते और आ टकराते किसी पुरानी बात से ही। हाँ-हाँ करके फिर किसी नयी बात के पीछे दौड़ते। खल भी रहा था कि एक छोकरे के सामने उनकी स्मृति का बाजा बजा जा रहा था···स्मृति भ्रष्ट···उसके बाद बुद्धिनाशो·· बुद्धिनाशा-

त्प्रणश्यति···नही, वे कागज की नाव नही है। पुश्तैनी वैद्य है···वात, कफ, पित्त, लेकिन आज की बीमारियां भी तो नयी है। इसलिए नये इलाज, नयी फीस और नये ढंग से वसूली भी। आफिस की जगह औषधालय होता तो जड़ी-बूटियों और भस्म पर मक्खियां भनभनाती होती, वे भी वासे से एक किनारे बैठे होते···आज का यह लकलक व्यक्तित्व। वे ही क्या करें अगर इस जमाने में ज्ञान का मतलब 'आप क्या-क्या जानते हैं' की जगह यह हो गया है कि 'आप किसे-किसे जानते है'···

एयरपोर्ट पर दो का टिकट ले लिया। श्री के साथ रहने से व्यस्त रहेंगे, ऐसा नही दिखेगा कि किसी का साथ तलाश रहे है।

एक सचिव विदेश-यात्रा से लौट रहे थे। अफसरो का एक छोटा-मोटा समुद्र हहरा रहा था···लहरियों की तरह इधर-उधर होते छोटे-मोटे गिरोह। मुलाकातें। पुराने परिचय आत्मीयता और रईसियत के मिले-जुले झटकों मे ताजा होते हुए—"आऊँगा किसी दिन दोपहर को, सब बाहर कही लंच लेंगे और गप्पें होंगी।" एक अजनबी गिरोह मे कोई कह रहा था कि सचिव बम्बई होकर आ रहे हैं, पीछे से आचार्य जी ने जड दिया—"नही, अहमदाबाद से, कल शाम ही तो फोन पर बात हुई थी।" मारा गिरोह एकदम उन पर लार चुचवाता हुआ झुक आया ···और फिर नये परिचय। कौन-सी इमारत मे बैठते हैं के बहाने क्या काम देखते हैं, कौन इलाका है, मतलब कितने काम के हो सकेंगे—सभी का इन्दराज कर डाला। सभी तरह के लोगों को पालना पड़ता है, कुएँ में नये से नया पानी भी आता रहना चाहिए—कुछ कन्नी काट जाते हैं, कुछ का तबादला हो जाता है, बेकार हो जाते हैं।

जनसमूह सहसा एक खास दिशा मे बह निकला, फिर पटरियो-जैसी दो रेखाओं की शक्ल लेने लगा—सब लाइन लगाकर खडे हो गये थे, गार्ड ऑफ ऑनर के लिए। आचार्यजी अपनी अदा में लाइन से अलग कर लेकिन पास ही एक किनारे खड़े हो गये। कुछ देर में सूट मे बँधी एक आकृति एक लाइन से हाथ मिलाती हुई उन तक आयी।

"स्वागत है···यात्रा मंगलमय रही?"

आचार्यजी ने हाथ जोड़े, सचिव को भी जोड़ने पड़े। पास खडे

श्री से हाथ मिलाया और दूसरी पंक्ति की पूँछ पर जा पहुँचे ।

आचार्यजी ने रूमाल निकालकर नाक पर रख लिया था जैसे आदमियों का वह झुण्ड नही धूल का एक बडा गुबार था जिसमें इधर-उधर बदबू के भभके भी दबे पडे थे । धीरे-से बाहर खिसक लिये ।

"मयूर भवन···आफिस होते चलना···"

कार मे बैठते हुए कहा और सोचने लग गये । जब वे सोचते होते तो चेहरा स्पन्दनहीन-सा हो जाता, कहीं कोई घण्टी नही बजती थी । ऐसे क्षणों में वे खुद को बादलों मे तैरता महसूस करते···कहाँ···? क्यों···किसका···जाने कितने नाम, कितने काम । कितनी शक्लें···कितनी कुलमुलाहटें दिमाग मे इधर-उधर रेंगती होती । वे उन्हे पहचानने की कोशिश करते, पर पूरी तरह पकड में कुछ भी नही आता था···कुछ-न-कुछ फिसल जाता । शक्लों की बारात-की-बारात उमडती चली आती थी—कई ऐसी थी जिनके नाम, धाम, पोस्ट नही थे, सिर्फ सूरतें थीं । उन्हे ये बिना चेहरों के इधर-उधर डोलते हुए धड-जैसे लगते । कुछ नाम-ही-नाम सामने से गुजर जाते, उनके ओहदे···यहाँ तक कि कमरे भी साफ-साफ दिखायी देते···सिर्फ आदमी नदारत होते थे । उनके लिए ये चेहरे थे, सिर्फ कही से कोई धड़ पकडने की देर थी ।

"हूँ···" अचकचाकर वे जाग गये ।

कागज का सहारा लेना होगा···नोट करके रखा जाय···लेकिन क्या-क्या···? डायरी अगर पकड़ी गयी तो···नही, यह कारोबार तो दिमाग के बल पर ही है । धन्धा बना भी तो बुढापे में जाकर । शरीर तो अब भी स्वस्थ है, दिमाग ही अक्सर उल्टी करता रहता है···कभी-कभी तो दस्त मे सबकुछ पलपल निकालने को हो आता है···साले को बदहजमी की शिकायत है, ठूँस भी तो रखा है उन्होने कितनो का मलमूत्र ।

श्री ने एक-दो बार आचार्यजी की तरफ देखा । वे अँगूठे के नाखून को घिसने में लगे थे । चेहरा खाली था, कुछ सोच रहे थे···शायद यह कि श्री को अपने आफिस में ही क्यों न फिट कर दिया जाय ।

साउथ एक्सटेंशन पर आकर कार आप-से-आप अन्दर की सड़क पर हो ली···जैसे रेलगाड़ी एक पटरी से दूसरी पटरी पर सरक गयी हो । रफ्तार

भी धीमी हो गयी थी, गो कि ट्रैफिक कोई खास नहीं था। ग्राचार्यजी पूरा जमे हुए थे, सीट पर आगे खिसककर उन्होंने अपने दोनों हाथ अगली सीट पर चढ़ा लिये थे। कुछ दूर से वे लगातार सिर्फ बायीं तरफ की दुकानों और दफ्तरों को देख रहे थे—ग्राफिसों के बोर्ड···एक, दो, तीन ···चार···फिर और···और···

तभी कहीं उन्होंने अपनी हथेलियों से सामने की सीट पर दो बार बजाया···कार तेज हो गयी और आचार्यजी एक बड़े 'हूँ' के साथ गहरी साँस लेते हुए अपनी सीट पर पीछे लुढ़क गये।

कौन थी उनकी ग्राफिस ?···श्री को पता ही न चल पाया। ड्राइवर को भी सिर्फ वह जगह पता थी जहाँ कार कभी-कभी खड़ी होती थी। उसके आगे आचार्यजी हमेशा ही उतरकर इधर-उधर दुकानों में गोते-बाजी करते हुए कहीं निकल जाते थे।

मयूरभवन की गैलरी में घुसते ही आचार्यजी ने दोनों हाथों को बाँधकर एक गुत्थी-सी बना ली और उसे छाती के सामने झुलाते हुए लहराकर चलने लगे। नीचे नारियलकी कार्पेट पर चरमर्र चलते हुए तब उन्हें राजसी सुकून महसूस हो रहा था···जितने तल्ले नीचे, उतनी ही दुनिया उनके नीचे। चाल से ऐसा लगता था जैसे कि वे सैर को निकले हैं···उस छोर तक···फिर उस छोर से इस छोर तक। कहीं कोई जल्दी नहीं थी, निगाहें भूले से भी किसी केबिन की तरफ नहीं उठती थीं। बस थोड़ा सामने अपनी गुत्थी की तरफ देखते हुए मजे से चले जा रहे थे। आगे उन्हें एक जगह बैठा हुआ अमरीक सिंह दिख गया। आचार्य जी को देखते ही उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़ दिये···"स्वास्थ्य ठीक है ?" आचार्यजी ने चलते-चलते पूछा और बगैर कुछ सुने हुए आगे बढ़ गये। श्री पीछे-पीछे घिसट रहा था।

तभी झटके से वे एक केबिन की तरफ मुड़ गये—चपरासी ने सलाम ठोकी और दरवाजा खोल दिया। ऊपर कृष्णचन्द के नाम की तख्ती थी।

"व्यस्त हैं ?"···आचार्यजी ने अन्दर झाँका। "आप काम करिए··· चलता हूँ।"

"आइए न, काम तो चलता ही रहता है।"

कृष्णचन्द ने सामने बैठे लोगों से थोड़ी देर के लिए माफी मांगी और फाइल एक तरफ सरका दी। आचार्यजी बाहर निकलते लोगों को मुस्कुराते हुए देखते एक किनारे खड़े थे…हाथों की गुत्थी को तोंद से चिपकाये हुए जैसे कोई मुद्रायना कर रहे हों।

"यह श्री है। अपना चेला, बड़ा भला लड़का है।"

उनके हाथ अब सामान्य स्थिति में आ गये थे। कुर्सी को अपनी तरफ खिसकाकर बैठ गये, श्री को भी बैठने को कहा। उन्हें सुकून था कि आज उनकी बदौलत श्री सचिव से हाथ मिला सका और कृष्णचन्द से भी मिल लिया।

"तब क्या हाल हैं?…इधर से गुजर रहा था, सोचा देखता चलूं। आज तो आपके सचिव विदेश से लौट आये, आप नहीं दिखे एयरपोर्ट पर?"

"नहीं जा पाया…आप गये थे?"

"क्या करूं…सम्बन्ध निबाहने पड़ते हैं और फिर यह तो जाते समय ही जिद कर बैठे थे कि मेरा आशीर्वाद लेकर ही जायेंगे।"

"आचार्यजी, आपके तो बड़ों-बड़ों से सम्बन्ध हैं…मुझे यहां से निकलवाइए न…"

"हां…हां…बताइए…किसको फोन कर दूं!"

"कोई उम्दा-सी जगह, विदेश के चक्कर लग जायें।"

"मैं रंगनाथन को फोन कर देता हूं।"

"कौन रंगनाथन…?"

"वही अपना रंगनाथन, विदेश मन्त्रालय में है…लाओ अभी कर देता हूं…" आचार्यजी ने फोन अपनी तरफ घसीट लिया।

"मेरा नाम तो मालूम है न…सर्विस…चौदह साल जिसके नौ साल क्लास वन…आजकल की पोस्ट…"

वह सब क्या था…सुनने की जरूरत नहीं थी। आचार्यजी ऐसे ब्यौरों में जाने लगे तो हो चुका…तो सुनें ही क्यों!

"हलो…कौन बोल रहे हैं…अच्छा-अच्छा…स्वास्थ्य अच्छा है? …अपने मित्रों के स्वास्थ्य की खबर रखना तो मेरा धर्म है; साहब

बहादुर नही हैं क्या···अच्छा चलिए बच्ची सुखी परिवार मे गयी··· साड़ी पसन्द आयी ?···उसका मनपसन्द रग था···आऊँगा किसी दिन ···अच्छा नमस्कार।"

उस पार पता नही कौन था—लेकिन कृष्णचन्द के मुँह में यह सोच-कर कि आचार्यजी रंगनाथन की पत्नी से बात कर रहे है, साफ पानी आ गया था।

"है नही, वर्ना अभी बात हो जाती, रंगनाथन काम करने मे एकदम तड़ाक-फडाक है···उसके लिए है भी बायें हाथ का खेल। दफ्तर में मैं बात नही करता···ये पी० ए० ससुरे महाबदमाश होते हैं···परसो ही तो उनकी लडकी की शादी थी···उसकी ज़िद थी कि सलेटी रंग की ही साड़ी चाहिए···"

और वे हँस दिये। हँसी के हिचकोलो मे उनका शरीर झूलने लगा तो कुछ दूर तक झूलता ही चला गया···रंगनाथन···सचिव···कृष्णचन्द ···अमरीक सिंह···की आकृतियाँ एक-दूसरे को काटती हुई सामने खेलने लगी। पहली अलबत्ता ज्यादा साफ न थी···कौन रंगनाथन···दो माह बाद रिटायरमेंट···प्रधानमन्त्री से एक्सटेंशन···जानकीनाथ, प्रधान-मन्त्री का खासुलखास···रंगनाथन क्या···

"कुछ कॉफी-चाय चलेगी, आचार्यजी ?"

"ऐ···नहीं, आप तो जानते हैं मैं व्यसनों से दूर रहता हूँ।"

आचार्यजी ने मेज पर कुहनियाँ टिका ली और उँगलियों के पोरों को टकराते हुए चुस्ती मे आ गये। "उसके क्या हालचाल हैं···और अपना वह कहाँ है आजकल"···करते हुए उन्होने उस विभाग के अपने प्यादों की लिस्ट दोहरा डाली। 'अच्छा लड़का है'···जैसे अपने कमेण्ट्स भी बीच-बीच में करते जाते। वे सभी अच्छे थे जो कभी उनके सम्पर्क में थे, कुछ-न-कुछ अच्छाई ही तो थी तभी तो सम्पर्क में आये—कोई तेज था, कोई रोबदाबवाला था, कोई और नही तो भला आदमी ही था।

दिन आधे के उस पार सरका जा रहा था और आचार्यजी···एक घर में भिन्न-भिन्न फड़फड़ाती ततैया और एक यह कि डटे हुए थे···जहाँ बात खत्म हो जाती वहाँ वे पोर बजाने लगते। श्री भुखा आया था और

हुआ यह कि कौरीडोर का मोड़ पास था। आचार्यजी सीधा बाहर की तरफ जाने की बजाय दायें मुड़ गये और तेजी से तीसरी केबिन मे खुलक गये। उन्हें ऐसा लगा जैसे वहाँ जाकर उन्हे अकेले मे कुछ बातें करनी हैं···*याद तो नही आया*···पर *शायद आ जाये*···अन्दर जाकर।

झूला

वे हमेशा बिस्तर पर पड़े रहना चाहती थीं।

कोई आता, पति उन्हें उसूलन मिलाना चाहते···मेहमान रुसवा हो जायेगा। वे बड़े कष्ट से उठतीं।

अपनी तरफ से किसी को नमस्ते करते उन्हें नहीं देखा गया। ऐसे मौकों पर वे पति के पीछे हो लेती होंगी। दूसरी तरफ की नमस्ते उन तक कम ही पहुँचती। पहुँच गयी तो जमीन के किसी टुकड़े की तरफ देखते हुए वे जवाब दे डालतीं, कांखते हुए।

कभी-कभी वे तैयार भी मिलती थीं—नहाकर हाल ही निकली हुई। कढ़े हुए बाल, बालों में खूब तेल, तेल नीचे चेहरे तक चुचवाता हुआ, मांग लाल-लाल भरी हुई, माथे पर मोटी लाल बिन्दी, गले में रुद्राक्ष की माला। कपड़े गहरे रंग के, ब्लाउज पर जहाँ-तहाँ सिकुड़नें, सुर्ख लिपस्टिक, जो उनके पूरे व्यक्तित्व में सूखी गोंद की तरह उखड़े-उखड़े ढंग से चिपकी होती। हमेशा एक-सी ही सूरत।

बैठ जातीं। रुक-रुककर जम्हाई लेती रहतीं। लोगों की बातचीत के बीच डोलती रहतीं, आगे-पीछे, जैसे वे सोफे पर नहीं, पालने में पड़ी हों और झूल-झूलकर नींद को बुला रही हों, डोलना न होता तो जमीन पर अपने पैर को ही उचका-उचकाकर मारती होतीं। चेहरा हथेली पर टिका हुआ और नजरें पैरों के बिछिये पर। वे कौन थे जो आये थे, क्या बातें कर रहे थे, इस सबमें अपनी तरफ से उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। पति बातचीत के किसी टुकड़े की तरफ उनका ध्यान खींचते हुए उन्हें भी घसीटने की कोशिश करते। वे थकी-सी तवज्जो देतीं। बोलना

लाजमी होता, तो एकाध छोटा जुमला बोल भी देती। फिर धीरे-धीरे अपने आपमें सरक आती।

तैयार होकर बैठ गयी थी, क्योंकि पति ने कहा था। बूढ़ी, बदसूरत या बेपढ़ी नहीं थी, लेकिन उस तरह सजी-धजी कमरे में बैठी हुई वे कोई फर्नीचर ही लगती थीं। पति किसी-न-किसी बिन्दु पर अचकचाकर उन्हें किसी बहाने अन्दर ठेल देते।

पति को उन्हें बाकायदे हाँकना पड़ता था। वे अगर नौकर को एक खिंची हुई 'सुन्ता···स' में बुलाते थे, तो उन्हें 'सुनती···ई···ई···हो' कहकर जोर से घंटी बजाते थे, एक तरह से। उन्हें जबरदस्ती घूमने को ले जाते। वे पीछे-पीछे अपने हल्के शरीर को भी करोढ़ते हुए चलती रहती। पति बैठकर सुस्ताने को कहते, तो बैठ जाती, तब तक बैठी रहती, जब तक पति फिर आवाज नहीं देते थे। पति के कहने पर फिर चल पड़ती, उस तरह उन्हें चलते हुए देखकर अक्सर ऐसा लगता, जैसे लेडी मैकबेथ बगैर मोमबत्ती के नींद में चली जा रही हो। ऐसा लगता था, जैसे उन्हें हर क्षण सिर्फ एक ही तलाश थी—नींद की, जैसे उन्हें सालों से सोने को नहीं मिला था।

लेकिन ऐसा था नहीं। क्योंकि वे नींद में थीं, गहरी और खिंची हुई नींद में। इससे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता था कि वे बिस्तर पर थीं या कि सोफे पर बैठी थीं या कि चल रही होती थीं। वे हमेशा सोती रहती थीं। उनकी आवाज भी नींद से दबी हुई ही निकलती थी। वह आवाज इस दुनियाँ की नहीं थी, कहीं दूर से आती हुई, कोई भटकती और बेहद थकी हुई आवाज थी जैसे वे किसी और देश की थीं और किसी अजनबी जगह आ निकली थीं। उस आवाज में अगर कामकाज, रोजमर्रा की सूखी चीजें भी निकलतीं, तो आलस्य में पगी मुनमुनाहट में ही, किसी मरियल-से संगीत में पसरकर।

चहल-पहल से उनकी नींद में कोई खलल नहीं पड़ता था। पति की आवाज से जरूर उन्हें कुछ सिहरन महसूस होती, जैसे कोई चींटी रोयों के बीच रेंगती महसूस की जाये। आवाज जब उन्हें और झकझोरती, तो वे अकबकाकर जाग उठतीं और आवाज के पीछे चलने लगतीं।

आवाज की गूंज जब तक रहती, तब तक वे उसी हिसाब से काम करती चली जातीं, लेकिन जैसे ही वह बुझने लगती, वे भी गुमसुम होने लगतीं, और धीरे-धीरे अपनी धुन में लौट जातीं। एक बार घूमते वक्त पति उन्हें एक पुलिया पर बैठकर सुस्ताने को कह गये, तब तक बाजार से वे एकाध चीजें ले आयेंगे। वे बैठी रहीं, जब तक पति की बात की पकड़ रही। फिर उठकर घर को चल दीं। पति वहीं ढूंढते-फिरते परेशान होते रहे।

अक्सर वे याद रखने की जरूरत से ज्यादा कोशिश कर बैठतीं। खाने के लिए कुछ मेहमान निमन्त्रित थे। ड्रिंक्स के दौरान पति ने खाना लगवाने का इन्तजाम देखने को कहा। वे गयीं और देर आयीं, फिर उन्होंने बैठकर हर पांच मिनट के अन्तराल पर किसी भी बातचीत के दौरान काफी खड़े-खड़े ढंग से पूछना चालू कर दिया—"खाना लगायें··· खाना लगायें ?" लोग समझे, वे उन्हें भगाना चाहती हैं।

पति की आवाज के बाहर जो कुछ था, उनके लिए वह था ही नहीं। अपनी तरफ से उन्हें कुछ कम ही और्ता था। वे कब क्या करें, यह तय करना पति की जिम्मेदारी थी। वहाँ भी उनका ध्यान सिर्फ उसी तरफ खींचा जा सकता, जो एकदम सामने था। बहुत आगे तक उनके पति भी उन्हें नहीं खींच पाते थे। एक बार उन्हीं के लिए पहाड़ जाने का प्रोग्राम पति ने बनाया। एक हफ्ते से तैयारियां भी हो रही थीं। वे खुद भी जब-तब कुछ करती रहीं थीं, फिर भी जिस शाम टैक्सी लेकर वे निकले, तो उन्होंने पूछा—"हम कहां जा रहे हैं ?" पति ने उतने ही मशीनी ढंग से जगह का नाम बता दिया, वे शायद आदी थे, इसलिए उलझते, खीझते बिलकुल नहीं थे।

वे बीमार नहीं थीं। ऐसा कोई मानसिक रोग भी नहीं ढूंढा जा सका था, जिसका इलाज किया जा सके। घर में ईश्वर का दिया सबकुछ था—धन-दौलत, चार बच्चे, बड़ी लड़की की शादी हो गयी थी। दोनों लड़के पढ़ने में अच्छे थे, सबसे छोटी लड़की थी। पर जब से उनके दोनों लड़के पढ़ने के लिए विदेश गये, तभी से उनकी अपनी एक अलग दुनियां बनना शुरू हो गयी। लड़कों के बाहर जाने के पक्ष में वे बिलकुल नहीं

थी, लेकिन पति का कहना था कि विदेशी पढाई की कदर देश में बहुत है, इसलिए जितना समय उनके लडके यहाँ रोजगार के लिए भटकते फिरने मे लगायेंगे, उतने में वे बाहर जाकर एक डिग्री ला सकते है और फिर अपने दूसरे साथियो के सर पर सीधे जाकर बैठ जायेंगे।

पर वे लगातार घबरा रही थी, लडको को बाहर भेजना एक बडा जुआ था और जुए मे हारने के आसार ज्यादा होते हैं। पडोसियो से उन्होंने सुन रखा था कि विदेश आजकल के लडकों को चौंधियाकर रख देता है और फिर वे उसी ऐश्वर्य के पीछे पडकर वही बस जाने की सोचने लगते है। लेकिन पति की दलीलें आधुनिक थी। उन्हे दबना ही था। डरते हुए उन्होंने लड़को को भेजा। लेकिन जैसे-जैसे लड़कों का वहाँ रहना आगे वढता गया, पढने के बाद फिर नौकरी के अनुभवों मे खिचने लगा, उनका सन्तुलन, आत्म-विश्वास सबकुछ डगमगाने लगा। फिर भी उम्मीद थी कि लड़के आयेंगे, ब्याह यही से होगा। उनके पोता-पोती इसी आँगन मे खेलेंगे—इसी घर में, जो वे कितनी ललक से बच्चो के लिए अब कही इस उम्र मे जाकर बनवा पाये थे। घर की क्या अहमियत, जब तक वह लड़कों और उनके बाद पोतों के काम न आ सके! बड़े लडके से ब्याह के बाबत चिट्ठी-पत्री भी शुरू हुई, ताकि उसका मन इधर की तरफ अभी से खीचा जाये। पहले तो उसने लिखा, वह ब्याह नही करेगा। फिर लिखा, अभी नही करेगा। आखिर बहुत समझाने-बुझाने पर वह राजी हो गया कि ब्याह करेगा और हिन्दुस्तानी लडकी से ही। जब उसको यह बताया गया कि उसके लिए लड़की का देखना शुरू कर दिया गया है, तब उसने अपनी कुछ राय भी भेजी—घर पैसेवाला न हो, पर नौकरीपेशा भी न हो। लडकी पढी हो, पर किसी होस्टेल मे न रही हो। घरेलू हो, पर संस्कृत विषय किसी स्तर पर न रहा हो। अंग्रेजी फर्राटे से बोलती हो, पर क्लब मे डांस वगैरह का शौक पाले हुए न हो। उसमे विट और ह्यूमर हो, पर बातूनी न हो। मेकअप का ज्यादा शौक न हो। रंग खूब गोरा और बाल लम्बे और काले हों।

उनका तो उनका, उनके पति का भी धैर्य टें बोल गया। जहाँ मसाल

इतना पेचीदा था, वहाँ लड़का ही पसन्द कर सकता था। इसलिए बात को उसके आने तक टालना ही पड़ा। उनमें अब लड़कों की चिट्ठी आने पर कोई खास उत्साह न जागता। यह अहसास घर करने लगा था कि लड़के उनके हाथ से निकल गये। ब्याह वगैरह सिर्फ दूसरों के घर के लिए बने थे, जहाँ वे बतौर मेहमान शामिल होती रही हैं और होती रहेंगी। अपने घर में भी ब्याह हो, उनके यहाँ भी मेहमान आयें, हंगामा हो, ऐसा मौका उनकी जिन्दगी में नहीं आयेगा। वे इस अनुभव से अधूरी ही रह जायेंगी।

बड़ी लड़की और दामाद कभी-कभी आ जाते, जैसे दूसरे लोग आते रहते थे। छोटी लड़की अपने कमरे में व्यस्त रहती। उनकी दिलचस्पी उसमें भी नहीं बची थी, जैसे घर में नौकर-चाकर इधर-उधर घूमते थे, वैसे एक वह भी थी।

उन्हें लगता ही नहीं था कि वे सन्तानवाली थीं। अक्सर कहीं भाग जाना चाहती, लेकिन कहाँ? यह सूझे तब न? और अपने में ही लौटना पड़ता। वहाँ सिर्फ खालीपन ही खालीपन था। सबकुछ बेमकसद, बेमानी, यहाँ तक कि उनका अस्तित्व भी। उनकी अपनी जड़ें कहीं नहीं थीं। सिर्फ उखड़े-उखड़े घूमना, लगातार घूमते रहना ही था जो कुछ था। बड़ा घर, बच्चे, नौकर-चाकर, ये सब होंगे जिसके होंगे, कम-से-कम उनके कुछ नहीं थे। जिसके हों वह देखा-भाली करे।

उन्हें अपने खालीपन में रहने की लत पड़ती चली गयी। वे नींद में झूलने लगीं। उसके बाहर अगर चीजें थीं भी, तो उन्हें उनमें रस नहीं आता था। घर का सारा इन्तजाम पति करते थे। उन्हें कुछ करने को कहते, तो घिसट-घिसटकर कर देती, और फिर आकर बिस्तर पर पड़ जातीं। उन्हें हमेशा यही लगा रहता कि वे बेहद थकी हैं। कब से उनकी नींद नहीं पूरी हुई है'''वे सो जाना चाहती हैं।

ऐसा लगता था कि उनकी जिन्दगी यों ही सोते ही बीतनी थी।

लेकिन एक दिन उन्होंने खुद को बेहद जगा हुआ पाया। बड़ा लड़का कुछ दिनों के लिए घर आ रहा था। जब से गया था, उसके बाद वह

पहली बार लौट रहा था। तार शाम को मिला। झटके में वे एकदम उठकर खड़ी हो गयी। उन्हें लगा, जैसे वे दौड़ना चाहती है। दौड़ती चली जाना चाहती हैं। कहाँ…किस तरफ…? सोचते-सोचते उन्हें सामने कितने ही काम दिखायी देने लगे, जो करने को पड़े थे। उन्हें अपने अस्तित्व में एकाएक बड़ा तत्त्व नजर आने लगा। वे उतनी व्यर्थ कतई नहीं थी, जितना खुद को समझती थी। कुछ देर पहले तक जो हवा में झूलता एक सूखा पत्ता था, वही अब पक्के तनेवाला पेड़ हो गया था, जिसे अभी और बढ़ना था, ऊपर चढ़कर फैलना था, अपने साये का सुख कुछेकों को देना था।

फौरन ही उन्होंने फोन करके बड़ी लड़की को बुला लिया, कुछ दिनों के लिए वह यहीं रहे। रात देर गये तक वे बड़ी और छोटी दोनों को समझाती रही कि लड़के पर कैसे फन्दे डाले जायें कि इन दो महीनों की छुट्टियों में उसकी शादी हो ही जाये, लड़के की क्या-क्या दलीलें होंगी और उन्हें कैसे तोड़ना था, उनके दिमाग में एक-से-एक युक्तियाँ आ रही थीं।

रात वे पलक भी नहीं झँपी। कोई जरूरत भी नहीं महसूस हुई। एयरपोर्ट जाते वक्त थकान या ऊँघ के निशान चेहरे पर एकदम नहीं थे, उल्टे ताजगी थी, जो उन्होंने अरसे से महसूस नहीं की थी।

लड़के को देखकर उनका खून खुशी के थपेड़ों में सनसना गया। उसका रंग निखर आया था। चाल और व्यवहार में चुस्ती आ गयी थी। एकदम अंग्रेज की तरह अंग्रेजी बोलता था। बालों की स्टाइल जरूर उन्हें पसन्द नहीं आयी—सामने की तरफ छोटे-छोटे, माथे पर चिपके हुए और पीछे झूलों में घूमते हुए…एकदम लड़कियों-जैसे। कुछ बदला-सा जरूर लगा था, पर नाक-नक्श तो वही थे, जो उन्होंने दिये थे। स्वभाव भी वैसा ही शान्त, गम्भीर, आखिर खून तो उनका ही था!

घर पहुँचते ही लड़के ने अपना सूटकेस खोल दिया। जो चीजें वह लाया था, उन्हें दिखाने लगा। 'एकदम दूसरी दुनिया है वहाँ' वह कह रहा था, "लोग काहिल नहीं है, एक-दूसरे पर विश्वास करते हैं। समाज में आदमी को बालिग होते ही हर चीज की स्वतन्त्रता है। हमारे यहाँ की

तरह पग-पग पर बन्धन नही है। कोई किसी की जिन्दगी मे खलल नही डालता। और सफाई तो इतनी कि यहांवाले सोच भी नहीं सक्ते। ऊपर-नीचे के लिए मशीनी सीढियाँ, आप-से-आप खुल जाते डिब्बे, तेज रेलगाडियाँ, रेलगाडियों मे खूब जगह और घर मे हर तरह की सुविधा के लिए नयी-से-नयी मशीनें। रंगीन टेलिविजन। हर चीज में यहाँ से सात हाथ आगे।" तड़कियाँ खूब दिलचस्पी ले रही थीं, पर उन्होंने पीछे से ही उन चीजों को देखा और दूर से ही लडके की बातें सुनीं। उनके दिमाग में कोई और चीज ही कुरकुरा रही थी और वे बार-बार लड़के को नहाने और नहाने के बाद नाश्ता करने की आवाज लगा रही थीं—"यह सब बाद में भी हो जायेगा। थोडा उसे नहा-धो लेने दो।" वे बार-बार कहतीं। आखिर उन्होंने उठा ही दिया।

नाश्ते के तुरन्त बाद ही उन्होंने लड़के को छोटी लडकी के कमरे मे बन्द कर दिया एक तरह से। वहाँ योजना के मुताबिक एक तरफ से बडी, दूसरी तरफ से छोटी लडकी उसे घेरकर बैठ गयीं। झाड़ू देते नौकर को आवाज देकर उन्होंने बड़े ही स्वाभाविक ढग से दरवाजा भी बन्द करा दिया। वह बैठक उनके लिए बडी ही महत्त्वपूर्ण थी।

इस दौरान वे अजीब हलचल मे ड्राइंगरूम मे चहल-कदमी करती रहीं। रसोइये को बुलाकर अगले तीन-चार दिनों के नाश्ते, दिन और रात के खाने का मीनू उन्होंने तड़ाक-फडाक बना डाला। लड़के को वे सारे हिन्दुस्तानी खाने मिलने चाहिए, जिनके लिए वह विदेश रहकर तरस गया होगा। उसके बाद इन दो महीनों में कहाँ-कहाँ जाने का प्रोग्राम बनाया जाये, इस बाबत पति से चर्चा करती रहीं। प्रोग्राम के बाबत आखिरी फैसला वे अभी रोक रखना चाहती थीं। वे खुद तय करेंगी, थोड़ी देर बाद ही। पति से सिर्फ टटोलना था। उन्हें हर क्षण ऐसा लग रहा था कि चीजों की बागडोर अब उनके हाथों में है। और उन्हीं को सारी चीजें चलानी हैं। पति उनकी रफ्तार पर हैरान थे और खुश भी।

बडी लडकी ने आकर खबर दी कि लड़का इस बात के लिए तैयार हो गया है कि शादी इन दो महीनों मे ही तय हो जाये। रस्म जरूर

अगली बार जब वह आयेगा, तब होगी, क्योंकि इसके लिए समय नहीं बचेगा। और अभी फिलहाल वह पत्नी को विदेश ले जाने की स्थिति में भी नहीं है।

अच्छी खबर थी। एक बार पक्की हो गयी, तो समझो, आधी शादी हो गयी। फिर तो लड़के को कभी भी एकाध-हफ्ते के लिए बुलाकर ब्याह किया जा सकता है। यह तो तय हो गया कि ब्याह अब इसी घर में होगा, वे ही करेंगी। आधी लड़ाई जीत गयी थी, पहली सुबह ही।

वे खुद को इतना ज्यादा जगा पा रही थी कि उनकी समझ में नहीं आ रहा था, क्या करें···और वे करती चली जाना चाहती थी। एक के बाद दूसरी चीज। दूसरी के बाद तीसरी। लड़के के राजी होने पर तो एकदम हुलफुला गयी। कुछ और नहीं सूझा, तो पति को आदेश दे डाला कि लड़के के आने की खुशी में और नहीं तो कुछ लोगों को खाने पर ही बुला लें। पति ने समझाना चाहा कि मेहमानों के लिए इस तरह एकदम पहले खबर देना असुविधाजनक हो सकता है, लेकिन वे अड़ी थी। करीबों को तो फोन किया जा सकता है। जो भी आ सकेंगे, आ जायेंगे, कुछ आ ही जायेंगे। पति उनके उत्साह में बाधा नहीं डालना चाहते थे, तैयार हो गये।

खाने के लिए जो मेहमान आये, उन्हें लड़के की लायी हुई चीजें वे बड़े जोश से दिखाने में लग गयी, उन चीजों के बारे में उनका उत्साह अब इतना था, जितना पहले-पहल देखने पर लड़कियों को भी नहीं था। खुद ही दौड़कर कमरे से ड्राइंगरूम में जाती और दिखाती चली जाती। लड़कियों को एकदम पीछे धकेलकर रख दिया था उन्होंने। चीजें दिखाती और बड़े ही तेज-तर्रार ढंग से बाँधती चली जाती। लड़के के गुणों के पुल—'उसने वहाँ जाकर सिगरेट छोड़ दी है, खिलाड़ी हो गया है, टेनिस खेलता है। यहाँ भी रैकेट ले आया है। तन्दुरुस्ती अच्छी बना ली है। हिन्दी बोलने की तो आदत ही छूट गयी। गोरा हो गया है।" जब वह खत्म हुआ, तो भागकर लड़के का एलबम उठा लायी और एक-एक करके फोटो दिखाने लगी—"यह लन्दन की है, यह जर्मनी की," कहीं-कहीं गलत बता डालती, लड़कियाँ पीछे से उन्हें टोकती। उन्हें इस

तरह टोका जाना खलता था, पर कभी वे अपनी ही चलाती, कभी लडकियो की बात को समेटते हुए आगे बढ जाती।

इस सबसे फुर्सत पायी तो फिर अपना बोझ बताने लगी। उन्हें इन दो महीनों में ही इसका ब्याह तय कर देना है। लड़की ढूंढनी है। कोई लडकी उनकी निगाह मे हो तो वतायें। लड़का यहां है ही, पसन्द कर लेगा।

खाने में मन उनका एकदम नही लगा। खाने जैसी फालतू चीजों के लिए उनके पास समय ही कहां था! मेहमानों के जाते ही फोन लेकर बैठ गयी। सामने रख ली नम्बरों की डायरी और एक-के-बाद एक लगाने शुरू कर दिये। हर जगह दो-तीन बातें ही—"'लड़का आ गया है, शादी तय करनी है। कोई लड़की निगाह मे हो तो वतायें। लडकी ऐसी-ऐसी चाहिए।" आनेवाले दिनों में उनकी दिनचर्या एकदम बदल गयी थी। जिन्दगी जो चूं चररमरर करती हुई घिसटती थी, वही अब फटाफट दौडने लगी थी। तेजी से फोटो और लड़कियां देखे जाने लगे। लडकियो की कोई कमी नही थी, लड़का भी तो अच्छे घर का और विदेश पढा था। उम्दा कमाई करेगा।

अपने व्यक्तित्व का वजन उन्हे अब बाहर भी साफ-साफ दिखायी दे रहा था। जिस समाज के लिए कल तक वे कुछ नही थीं, उसी के लिए अब बेहद महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। जो लोग पहले उन्हें एक तरफ करके पति से ही बातचीत करके चले जाते, वे अब उन्ही से सटते थे। लडकी के बारे मे उन पर प्रभाव गांठने की कोशिश करते, यह जानते हुए भी कि असली राय तो लडके की ही होनी है, उन्हें यह सब अच्छा लगता और वे कही से भी यह आभास न होने देती कि उनकी राय का कोई महत्त्व नही था। आखिर, अन्तिम निर्णय लेने में लड़के की राय बहुत-कुछ उनसे प्रभावित होकर ही रहेगी।

वे बड़े ही व्यस्त दिन थे। करीब-करीब रोज या तो कोई खाने पर आता होता, या उन्हे कही जाना होता। और यह खाना-पीना पहले की तरह बेमकसद न होकर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण दिखता था। कितना-कुछ

टिका था उन पर···कितनी सम्भावनाएँ छिपी थी और हर जगह सिर्फ एक खास उद्देश्य ही, लड़के की शादी। किसी और चीज या यों ही उठने-बैठने के लिए उनके पास समय ही कहाँ था! कुछ घर ऐसे भी थे, जहाँ थोड़ी-बहुत बातचीत पहले भी चली थी। उन्हे भी देखना था। कुछ खानदान इस शहर के बाहर के थे। वहाँ भी लड़के को ले जाना था। लड़कियों के फोटो, उनके गुणों पर टीका-टिप्पणी, घरवालो से बातचीत। यही सब चौबीसों घण्टे उनके इर्द-गिर्द उतराते रहते। बातें चाहे जो हो रही हों, जहाँ हो रही हों, उन्हे लगातार यही महसूस होता रहता कि सारी चर्चा का केन्द्रबिन्दु वही थी, लोगों के जमावड़े मे भले ही नाम के लिए लडका 'हीरो' रहे, लेकिन असली रोल उन्ही का था।

जहाँ कभी सिर्फ एक ही जगह चिपके रहना, बहुत हुआ तो घिसटना था, वहाँ अब भागमभाग थी, खालिस शारीरिक भागमभाग और मन तो उनका उससे भी कई गुना अधिक गति से दौड़ रहा था। दौडता रहता। उनमें गजब की चुस्ती आ गयी थी। सोती तभी जब थककर चूर होकर गिर पड़ती और फिर चौंककर जाग पड़ती। जीवन बड़ा ही अर्थपूर्ण हो गया था।

लडकियाँ लगातार दिखायी जा रही थीं, लेकिन लड़के को एक भी पसन्द न आती। किसी की नाक ज्यादा लम्बी थी, तो किसी के बैठने की स्टाइल गलत थी। कोई तेज बोलती थी, तो कोई बेवजह गुमसुम रहती थी, अंग्रेजी का एक्सेंट तो सभी का बेकार था, जिससे उनका अंग्रेजी पढ़े होना और न पढ़े होना बराबर था। साडी की फसर-फसर और ढीलढाल······बतासाफोड़ और घुमावदार चाल लड़के के गले के नीचे एकदम न उतरती थी। वह आदी था, ऊँची हील की उचक-उचककर भागते चलनेवाली स्टाइल का, जहाँ शरीर के उचकने के साथ-साथ बाल भी उचकते चलते हैं। उसे एक भी लडकी स्मार्ट न दिखती थी। सब सुस्त, जैसे शरीर का बोझ ही हर किसी के लिए जरूरत से ज्यादा था।

ऐसा नहीं था कि लड़का कोई चाल खेल रहा था। उसे माँ के कष्ट का पता था। उनके लिए पीड़ा भी जब-तब महसूस कर

ज्यादातर उसे माँ की ज्यादती ही दिखती । कोई क्यों इस कदर अपनी खुशी के लिए किसी दूसरे पर निर्भर हो, भले वह बेटा ही क्यों न हो ! लडके को माँ-बाप क्यों अपनी खरीदी हुई चीज समझ लेते हैं ! उसके ब्याह से अपनी बाकी जिन्दगी क्यों इस हद तक जोड लेते हैं ! उसे घिन छूट जाती और विदेश के साफ-सुथरे सोचने के तरीके याद आते । बॉय फ्रेण्ड और गर्ल फ्रेण्ड, लडकी-लड़के जानें—शादी-ब्याह वे खुद जानें। वह इतने दिनो से विदेश में है और उसे वह छूट नहीं, जो वहाँ पर हर नौजवान लडके-लड़की को है। यों चौकीदारी कोई न करता हो, पर मन पर तो बोझ बना ही रहता है। पत्नी की बात सोचते ही माँ का सोचना पडता है, जैसे माँ का सोचते ही शादी की बात सोचनी पड़ती है। उसे अपने कॅरियर का भी ख्याल था, पर माँ की खातिर उसने शादी का सोचने के लिए कुछ वक्त निकाला था —जब कि उसके हिसाब मे शादी की अभी कही जगह ही नही थी । लड-कियो को देखने भी चला, तो उसे एक-न-एक बुराई फौरन दिख जाती··· और फिर इतनी गड़ती कि वह पूरी जिन्दगी उसके साथ रहने की सोच भी नही सकता था। अक्सर उसे खासी विक्षिप्ति का अहसास भी होता । वह एकदम माँ-बाप की तरह नही सोच पाता था और दूसरे सिरे पर वह रुख भी अख्तियार नही कर पाता था, जहाँ माँ-बाप को एक किनारे कर सिर्फ अपना सोचा जाये । वह सोचता था कि कुछ रास्ते जरूर ऐसे होंगे, जहाँ दोनों पक्ष एक-सा सोच सकेंगे ।

उन्हें कोई क्षोभ नही था, वे पूरे विश्वास के साथ लगी हुई थी। कोई-न-कोई पसन्द आयेगी ही, लडकियों की कमी कहाँ थी ! वे लडके की दिक्कत भी महसूस करती थीं—जहाँ चुनने का क्षेत्र इतना लम्बा-चौडा हो, वहाँ कुछ मन भी तो बिलबिचया जाता है। अपनी बात ही समझने मे देर लगती है । हो सकता है, जिन्हें लडका मना कर चुका है, उनमे से ही किसी की तरफ उसका मन हो जाये । इसलिए चर्चा में इधर-उधर से ऐसी लडकियो का जिक्र भी उठाती रहती, घूम-फिर कर ।

आखिरकार लड़के ने अपनी बड़ी अहल से एक लड़की के लिए यह कहा कि वह उसके लिए 'फेवरेबली डिस्पोज्ड' है । खबर उन तक फौरन

पहुँची। वे उचक पडी। तभी लडकी के परिवार को खबर करने जा रही थी, पर पति ने सलाह दी कि उन लोगो को शाम की चाय पर यही बुला लिया जाये। वात हो जायेगी और इन मामलो में हल्ला करने की अभी से क्या जरूरत! शाम के प्रोग्राम के लिए लडके की भी स्वीकृति ले ली गयी। वे प्रसन्न थी। सबकुछ ठीक-ठाक चल रहा था। समय जो लगा, लगा। शादी-ब्याह बड़े काम हैं, यों ही थोडा तड़ाक-फडाक तय हो जाते है। लड़के ने आखिर अच्छी लड़की पसन्द की थी—सुशील और सुन्दर—एकदम उनके घर के लायक। घर भी रोबीला और खानदानी था। लडके का झुकाव हो ही गया है। एक-दो वार उन लोगो के साथ उठना-बैठना होगा, तो आत्मीयता भी आप-से-आप पैदा हो जायेगी। वाकी अन्त मे जो थोडे-वहुत वजन की जरूरत होगी, वह वे डाल देंगी। पक्की ही हो गयी समझो। वे सोचती थी।

दोपहर को लडका पास के वाजार चला गया, आधा घण्टे के लिए कहकर गया था, लेकिन आया ही नही। कार लिये था, तो कही और चला गया होगा। लड़कीवाले आये, बैठे इन्तजार करते रहे। गनीमत कि लड़की नही आयी थी, वरना उस मासूम पर न जाने क्या गुजरती। उन्हें अभी से लड़की के जज्बातो का भी खयाल रखना था। सास यह नही करेगी, तो और कौन करेगा?

लडके पर उन्हे हल्का-सा गुस्सा आ रहा था, पर गुस्से के साथ यह भी लग रहा था कि लडका जरूर किसी मजवूरी मे फँस गया होगा। हो सकता है, कही कार खराब हो गयी हो। दो-चार जगहे जहाँ वह जा सकता था, वहाँ फोन से भी पुछवाया—लडका कही नही था। फिर भी वे लड़के का ही पक्ष लेती रही। उसे वता दिया गया था, वह इतना गैर-जिम्मेदार नही है। जरूर कही कुछ गड़वड है। क्या पता रास्ता ही भूल गया हो—कितने दिनो वाद तो आया है बेचारा! हो सकता है, रास्ते में कही ट्रैफिकवाले तंग करने लगे हो। यहाँ पर उन्होने पति से पूछा—"ड्राइविंग लाइसेंस तो है न उसके पास?" नही था। यह भी चिन्ता का विषय था।

लड़की के माँ-वाप भी चिन्तित थे। काफी इन्तजार करने के वाद वे

गये। जाते हुए कह गये कि लड़के के आते ही खबर करें। उन्हें चिन्ता लगी रहेगी। उन्हें यह सुनकर बेहद अच्छा लगा था।

आठ बजे के करीब लडका वापस लौटा। पहले दोस्त के यहाँ चला गया था। फिर उन दोनो ने चाट खायी और वहीं से सिनेमा का प्रोग्राम बन गया।

यह पहला मौका था, जब वे लड़के पर गरम हुईं। वे लोग क्या फालतू हैं कि यहाँ आकर बैठे रहें? लडकीवाले हैं, तो क्या हमारे कर्जदार हैं?

लडके ने खेद व्यक्त किया कि कुछ लोगों को खराब लगा। उसे तो यही खराब लगता है कि इतने लोगों की फौज-की-फौज दिनों-दिन सिर्फ इसी काम मे लगी रहे कि उसकी किसी लड़की से शादी होनी है। अगर उसके माँ-बाप से मिलने आने की ही बात थी, तो वे लोग तो थे ही। उसके सामने एक उम्दा प्रोग्राम था, इसलिए वह उधर चला गया।

उन्होने लडके को सहज ही माफ कर दिया। उसका अपना अलग ढंग था, उम्र दूसरी थी। उस वक्त उसे छेड़ा भी नहीं, लेकिन बात कहीं बीच मे लटकी हुई है, इस स्थिति से वे एकदम सन्तुष्ट नहीं थीं। वे उसे जल्दी ही निष्कर्ष पर पहुँचा हुआ देखना चाहती थीं, ताकि लड़के के जाने के पहले कम-से-कम पक्शात हो जाने का जश्न तो मनाया जा सके। लड़के के जाने में अब दिन ही कितने रह गये थे। इसलिए दूसरे ही दिन उन्होंने लड़के को फिर घेरा, "अब लड़की तुम्हें पसन्द ही आ गयी है, हमें भी घर-द्वार पसन्द है, बात तय कर ली जाये, ताकि तुम्हारे जाने से पहले हम गाना-बजाना भी कर लें।"

"माँ, देखकर पसन्द करना एक चीज है, मुझे लड़की के साथ कुछ समय तक रहना होगा। बिना साथ रहे आप कैसे किसी के बारे मे जान सकते हैं!"

"लेकिन बेटे, तुम तो जानते ही हो।" पिता ने समझाने की कोशिश की, "अपने यहाँ शायद ही कोई शादी के पहले इस बात के लिए राजी हो। हम भी लड़कीवाले हैं। क्या हम तैयार होंगे इसके लिए? जहाँ लड़का-लड़की अपने आप ही तय कर लेते हैं, वहाँ की बात दूसरी है।"

"साथ रहने का क्या···साथ ही रहना है। लड़की ऐसे ही पसन्द की जाती है, देखकर। बाकी चीजों का अन्दाजा तो कुछ परिवार से लगा लिया जाता है। वह सब हमने देख-समझ लिया है, तुम बेफिक्र रहो। हम सोचते है, पक्की की रस्म परसों कर ली जाये।" उन्होने अपने पूरे वजन को रख दिया था इस बार, जैसा कि ऐसे पके मौकों पर दूसरी माताएँ करती है।

पर तभी उधर से एक भभका उठा।

"तुम किस दुनियाँ में रहती हो, माँ! ब्याह तो मेरा होना है। जब तक साथ न रहा जाये, क्या पता चलता है! लोग पहले साथ रहते है, बाद में शादी की बात होती है।" लड़के को अपनी बात रखनी ही थी, कभी-न-कभी।

वे किस दुनियाँ मे रहती हैं? कौन-सी है उनकी दुनियाँ? वह जिसमे वे पहले थी, या यह, जिसमे वे अब है! कहते हैं माँ की दुनियाँ तो लड़कों-बच्चो की दुनियाँ होती है, क्या उनके लडके की दुनियाँ उनकी दुनियाँ हो सकती है···उन्हें झमा-सा आने लगा।

"इस तरह तो देर ही होगी," पिता ने छूटती डोर को पकड़ने की कोशिश की, "हम चाहते थे कि इस बार तय-तवा हो जाता। तुम भाई-बहनो के बीच हमें बँटवारा भी करना है। इकट्ठी जायदाद सभी को खटकती है आजकल। तुम यह भी बता जाते कि तुम्हें क्या-क्या दिया जाये···"

"डोंट लुक डाउन अपॉन मी फादर। आप मुझे निकम्मा समझते है?"

अजीब लोग है यहाँ। दान देने में ही उनका बडप्पन है। जहाँ भिखारी न भी हों, तो ये इस फेर में रहते है कि भिखारी बना दिया जाये। कोई अपने बलबूते पर खड़ा हो, अपने फैसले आप करे, यह बर्दाश्त ही नही होता। लडका तेज पड़कर उठ गया। पिता की बोलती बन्द हो गयी। उनके चेहरे का जैसे फ्यूज़ ही उड़ गया। पति का बुझा चेहरा देखकर वे करीब-करीब ढह गयी। इससे अच्छा तो वे पहले ही थीं, जब किसी का कुछ कहना, बोलना···सिर्फ दूर हवा में हिलती पत्तियों

की तरह था।

उनकी दुनियाँ···किसी की दुनियाँ ? यह खामखयाली है कि किसी की कोई दुनियाँ होती है। जिन्दगी जैसी छोटी मुट्ठी में भी क्या कोई दुनियाँ आ सकती है ?

वे ऊँघना चाहती थी, बिल्कुल पहले जैसा। आराम से हिलते हुए भूले मे···आँख मीचकर। भूलते हम सब हैं, कोई धीमे-धीमे एड लगाकर ऊँघते हुए, कोई तेज-तेज पेंग या लूमें लेकर। फर्क कुछ नही सिर्फ रफ्तार का था। वरना भूले चढते हैं, उतरते है, फिर पंखे की तरह धीरे-धीरे डुलते हुए थम जाते हैं।

वे लौट पड़ी, अपने वजनी पैरों को खचोरते हुए बिस्तर की तरफ। उन्हे ऐसा लग रहा था कि इन तमाम दिनों में वे सोयी नही हैं, और उन्हें नीद की सख्त जरूरत है।

स्वरलहरी

उसके पास एक ही शब्द था···आ···आ···और उसे निकाल भी वह करीब-करीब एक ही स्वर में रही थी···आ···आ, आ···आ··· आ···आ, आ···आ···आ। आखिरी 'आ' को थोडा खीचती थी और फिर मुडती थी, लेकिन जिस तरह बिना साँस लेने को रुके हुए वह आ··· आ···कर रही थी, उससे वह एक ही शब्द न जाने कितने चोले ओढ़-छोड़ रहा था। जहाँ एक तरफ लगता कि उसे बुखार था और वह तपिश मे लगातार कराह रही थी, वही दूसरी तरफ कभी यह भी लगता जैसे वह गुनगुना रही थी···कोई लोरी की धुन, किसी को सुलाने के लिए।

सीट पर पैर सकोरे उस तरह उकडूँ बैठे हुए उसने अपना सारा शरीर डिजाइनोंवाली एक मोटी और मैली चादर से ढक रखा था। ऊपर हाथो से जिस्म की तरफ खींचा हुआ और नीचे पजों के बल दाबा हुआ वह एक छोटा-मोटा खेमा था जिसके अन्दर उसका सबकुछ था। खेमे के बाहर सिर्फ उसका चेहरा था। जब आ···आ···आ···आ···आ की लूमें लेते हुए वह चादर के इधर-उधर के हिस्सो को अन्दर अपने शरीर की तरफ सिकोड़ती-दाबती तब ऐसा भी लगता था जैसे आ··· आ···के स्वर जाड़े की वजह से निकल रहे थे।

उसका डिब्बे मे आ जाना, यहाँ तक कि गाडी पकड़ लेना एक इत्तफाक ही था। पिछले स्टेशन गाडी की बराबरी से वह प्लेटफार्म पर हो चली जा रही थी···जैसे बैठने के लिए सही डिब्बा ढूंढ रही हो या कि तब भी पशोपेश मे थी कि गाड़ी पर चढ़े या कि पीछे ही रह जाय। जब गाड़ी चलने को हुई तब वह दरवाजे पर इस तरह टिकी खड़ी थी

कि गिर ही जाती। दरवाजे पर खड़े भाऊ ने उसे अन्दर घसीट लिया था। अन्दर आकर उसने खिड़कीवाली पूरी-की-पूरी सीट ले ली थी।

प्लेटफार्म पर उस तरह बेमक़सदी से चलते हुए भी उसके मुँह से यह आवाज निकल रही थी या नहीं, कहा नहीं जा सकता। अगर रही भी होगी तो बाहर की पैनी हवा उसे तितर-बितर कर देती होगी, खुले आसमान में। इतना तय था कि तब किसी का ध्यान उस पर नहीं गया था···क्योंकि बाहर और भी ढेरों तरह की आवाजें थी।

लेकिन डिब्बे के अन्दर अब सिर्फ वही वह उछली हुई थी। थोड़ी देर लोग उस आ-आ मे हिचकोले खाते डूबते-उतराते रहे···सुबह की ऊँघ और गाड़ी के हिलने-डुलने के साथ-साथ···लेकिन सुबह के साफ होते ही जैसे ही ऊँघ गायब हुई और गाड़ी के धक्कों का अहसास कम हुआ, 'आ-आ' ऊपर आ गयी···और अब डिब्बे में सिर्फ वही वह थी···एक ही आवाज, लगातार चलती हुई—आ···आ, आ···आ·· आ···आ··· आ···, आ···आ···आ···

लगता था कि वह उसका लोगों का ध्यान अपनी तरफ खीचने का एक हथकण्डा था। लोग जो वैसे उसकी तरफ शायद देखते भी नहीं, अब उस आवाज से लटके हुए बैठे थे···निश्चेष्ट···उनकी इन्द्रियाँ सुन्न पड़ गयी थी, वे अपने-अपने कोनो में चुपचाप आ···आ···मे खिंचे बैठे थे, सामने उसकी तरफ देखने के अलावा जैसे उनके पास और कोई काम नही था।

देखने में वह बस भयानक होते-होते रह गयी थी। झुर्रियों से पटे हुए चेहरे से सिर्फ दो ही चीजें ऊपर उठती थी—आ···आ···और बराबरी से इधर-उधर दौड़ती हुई उसकी आँखें,···खौरयाती हुई आँखें··· बाहर दुनियाँ की लम्बाई-चौड़ाई नापती हुई। ऐसा भान होता था कि यही था जो वह कर रही थी, गले से तो आवाज जैसे यूँ ही निकल रही थी जिसका उसे शायद अहसास भी नहीं था।

आँखों से अलग हटकर नजर फिर उसके गन्दे मुँह पर ही पड़ती थी—पोपला मुँह, मसूड़ों की लार से चिपचिपाता हुआ, आगे नीचे के मसूड़ों पर उगे हुए दो काले, सड़े और करीब-करीब घिसे हुए दाँत, जहाँ

आकर लार तब तक अटकी रहती थी जब तक 'आ-आ'···उसे फाड़कर गुज़र सकती थी, उसके आगे फिर वह उसे चाटकर अन्दर कर लेती थी।

सर्दी में तुर्शी आना अभी बाकी थी। आ···आ के साथ बाहर एक उजला दिन पैदा हो चुका था। गाड़ी अगल-बगल के खेतों मे उगे छोटे-छोटे पौधों पर हवा की सरसराहट बिछाते हुए सामने दौड़ी जा रही थी। गाडी की आवाज़ भी उसकी 'आ···आ' को दाब नहीं पा रही थी। अब तक वह सिर्फ लार को रोकने के लिए मुश्किल से एकाध पल को रुकी थी और जिस लगातार क्रम से 'आ···आ' निकलकर बाहर फैल रहा था, उससे उसके थकने का तो कहीं सवाल ही नहीं उठता था··· उल्टे यही लगता कि उसके गले में कोई सूराख है जहाँ से आवाज़ लगातार बाहर झर रही है, जैसे सण्डास का पानी गाडी के भचर-भचर से बाहर निकलकर डिब्बे मे इधर-उधर डोलने लगा था।

"अब चमक जा बुढिया, काहे खाँ अम्रयात है···" भाऊ ने प्यार-भरी डपट दी।

एक पल के लिए आ···आ···टूटा, उसकी इधर-उधर दौड़ती हुई बिल्ली-जैसी आँखें किसी एक बिन्दु पर थोड़ी देर को थमी·· फिर दाँतो के खूँटों पर अटकी हुई लार इस बार अन्दर न ले जाकर उसने बाहर ही पिच्च से फेंक दी, ठीक अपने सामने।

"ए बुढ़िया, खिडकी के बाहर थूंक···जहाँ बैठती है वही गन्दगी करती है···" दूर बैठे एक ने ललकारते हुए कहा।

उसने सुना जरूर था क्योंकि वह फौरन ही अचकचाकर इधर-उधर देखने लगी थी···पर शायद उसे शिकायत समझ मे नहीं आयी थी। हैरानी उसके चेहरे पर मुश्किल से एक सैकेण्ड को रुकी···उसे झटकाकर अलग फेंकते हुए वह फिर 'आ···आ' में चल पड़ी।

आ···आ की रस्सी ने उनकी गर्दन को फिर कस लिया था और अब वह उन्हें अपनी तरफ खीच रही थी। नफरत की जो पतली झिल्ली उसके सामने थूक देने से ही फैली थी, वह भी उस एकरस आवाज मे जल्दी ही दब गयी। लोगों को ऐसा लगने लगा था कि जब तक उसकी

ग्रा'''ग्रा'''चालू थी वे उसमें लटके रहने को मजबूर थे। उन्हें इस तरह लटकाये हुए वह अपनी आँखों के बल फिर चारों तरफ दौड़ रही थी। किसी एक चेहरे पर ये आँखें कभी नहीं टिकती थी, लगातार फिसलती चली जाती—भूखी, खौख्यायी, चोर आँखें।

"कहाँ जायेगी ?'''" एक शिक्षित-से दिखते सज्जन ने पूछा। उसकी आँखें एक पल को उनके चेहरे पर रुकी, फिर फिसलकर अलग चली गयी, घूमती हुई लाइट-हाउस की रोशनी की तरह। ग्रा'''ग्रा''' में कहीं कोई हल्की मरोड़ भी नहीं उठी थी।

आखिर खिंचते-खिंचते वह बिन्दु आया, जहाँ लगातार बहती उस आवाज की एकरसता और लिजलिजाहट से लोगों को उकताहट होने लगी, इसके पीछे उसके थूकने के लिए पैदा हुई नफरत भी कहीं हिल्गी थी।

वह क्या चाहती थी'''उसे कहाँ जाना था'''? अगर यह कुछ पता चल जाता तो शायद बात कुछ ढीली पड़ी होती।

वे उसे ध्यान से उतारने की कोशिश करने लगे'''कुछ अपने घरौंदों मे लौट आये, कुछ बाहर देखने लगे—भागते पेड़, फैले खेत, इधर-उधर उगी कँटीली झाड़ियाँ, मवेशियों के झुण्ड, बैलगाड़ियाँ, कौतूहल में गाड़ी की तरफ आवाज लगाते या बराबरी से दौड़ने की कोशिश करते बच्चे '''नंगधड़ंग, धूल मे सने हुए, मरियल बैलों को मारते हुए फटेहाल किसान, हल की नाल को दबाने में सहारा देती हुई उनकी पत्नी, थिगरया धोती में।

वे ज्यादा देर तक बाहर न रह सके, अलग-अलग घेरों पर भी उसकी आवाज जाकर चोट करती थी और लोग बातचीत भूलकर उसकी तरफ देखने लगते। कुछ करते होते तो वह भी बीच में कहीं अटक जाता था। उसकी दौड़ती हुई नजरों से कुछ भी ढका या कटा हुआ नहीं रह सकता था। पहले ग्रा'''ग्रा'''की आवाज खटखटाती, फिर पीछे से उसकी नजरें आकर उकेलकर धर देती'''घरौंदा ढह जाता और आदमी ग्रा'''ग्रा''' मे करूढता हुआ फिर उसी से जा लगता था। जो बाहर देखते थे, उनकी गर्दन जैसे कोई पीछे से पकड़कर

इधर को मोड़ देता था।

आ···आ···आ, आ···आ···आ···आ···आ···सब तरफ यही यह था।

लोगबाग अब उस आवाज के एकदम ऊपर चील की तरह उड़ने लगे थे···झपट्टा मारकर आवाज को छेदने और फिर उसे फाड़ डालने के लिए खुद को तैयार करने लगे थे।

तभी उसने आ···आ के बीच में कहीं 'पानी' मिलाकर आगे सरका दिया। लोगों के लिए जैसे वह एक नया शब्द था और वे उस पर चिपक गये। उनका तनाव हल्का पड़ गया। उसे पानी पिलाने की व्यग्रता उन्हें सालने लगी। अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो उसे पानी के नल तक ले जाने और वापस ले आने की जिम्मेदारी लिये कई लोग आगे बढ़ आये।

"बुढ़िया, प्यासी है?"

उसने ऊपर अचम्भे की नजरों से देखा। उसे उनमें जरा भी दिलचस्पी न थी···जैसे कि अगर वह प्यासी थी भी तो उसे साथ ही यह दम्भ भी था कि पानी के लिए उसे उनमें से किसी के सहारे की जरूरत नहीं थी···या कि फिर 'पानी' भी आ···आ···के क्रम में एक और शब्द था···उतना ही बेमकसद और अर्थहीन। वह काफी दूर जा चुकी थी तभी ही और जहाँ तक उसे याद भी नहीं था कि वह शब्द उसके अपने गले से ही निकला था, जहाँ से आ···आ···फिर पहले की तरह बाहर की तरफ बह रहा था···लगातार।

बराबरीवाली खिड़की की सीट पर ही भाऊ ने अपने कलेवा का इन्तजाम शुरू कर दिया। साफी में बँधी हुई गठरी को खोलकर गुड़ और आटे का एक सख्त पर बड़ा लड्डू निकाला और पानी के लोटे की आड़ किये, फोड़कर खाने लगे।

उसकी दौड़ती हुई नजरें लड्डू पर अटककर रह गयीं···और अब वे सिर्फ भाऊ के कार्यकलापों पर रेंग रही थीं—लड्डू तोड़ती हुई भाऊ की उँगलियाँ, पिसान के एक बँधे हुए टुकड़े को ऊपर मुँह तक ले जाता हाथ और फिर जायके में चक्की की तरह चलता हुआ रसदार

उसकी नजरें इसी क्रम को नीचे से ऊपर तक नापतीं और नापकर फिर लड्डू पर उतरती थी। आँखें जो लपलपाती आग की तरह सबकुछ लीलने की शक्ति रखती दिखती थी, उन्हें अब लड्डू के अलावा और कुछ नहीं दिख रहा था। साथ-साथ चल रहा था आ···आ,···आ···आ ···आ··· आ···। जैसे ही भाऊ अगला कौर ऊपर ले जाने लगे, उसने अपनी हथेली चादर से बाहर निकालकर भाऊ के मुँह और हाथ के बीच खडी कर दी। भाऊ के हाथ और मुँह के बीच अब उसकी हथेली का पर्दा था। भाऊ कुछ घबडाये हुए एक पल उसे देखते रह गये, फिर बिचककर दूर हटे और उन्होने हाथ में रखा पिसान का वह टुकड़ा उसकी चितकबरी हथेली मे दूर से डाल दिया। हथेली मे गिरते ही औरत ने लड्डू के उस टुकड़े को मुट्ठी में कसा और खीचकर अपनी तरफ ले आयी। दूसरे हाथ से उसका एक बडा-सा कौर तोड़कर उसने अपने मुँह मे भर लिया और चप-चप करने लगी।

आ···आ···बन्द हो गया था और उसकी जगह अब चप-चप की आवाजें थी। उसकी आँखें सब तरफ से हटकर हाथ में रखे लड्डू के एक टुकडे पर ही थी। अगल-बगल झाँकती हुई भी वह लड्डू में ही झुकी जा रही थी। तेजी से खाने में लगी थी कि कही लड्डू कोई और न छीन ले जाये। उसका कसा हुआ चादर ढिलया गया था। चादर के अन्दर वह करीब-करीब नगी थी।

तीन-चार कौर उसने जमकर खाये, एकदम डूबकर। उसके बूढे मसूड़े कडे पिसान के कौरों को मीसने मे लगे हुए थे। फिर उसने पानी के लोटे की तरफ इशारा किया, निहायत बेतकल्लुफी से जैसे कि भाऊ कोई अजनबी नही बल्कि उसका सहयात्री था। भाऊ ने लपककर अपने दोनो हाथो मे लोटे को फाँसकर अपनी तरफ घसीट लिया। वह एक लड्डू का टुकडा तो दे सकते थे लेकिन लोटा नही···

"यौ न मिलिहै।" भाऊ ने साफ-साफ कहा और अपनी पीठ उसकी तरफ करते हुए वह डिब्बे की दीवारो की तरफ मुँह करके बैठ गये··· बिना किसी व्यवधान के कलेवा करने···

ऐसा लगा कि इस पर बुढिया को थोड़ी नही अच्छी-खासी हैरत

हुई। उसकी चोर आँखों मे पहली बार हल्की उदासी के रंग तिर आये थे···पर उन्हें झुठलाते हुए वह फिर मुँह में पड़े कौर पर उतर गयी।

बड़े बेमन से चबा रही थी और अगला कौर उससे नहीं ही लिया गया। हथेली पर पिमान का अच्छा-खासा टुकड़ा अब भी खत्म करने को पड़ा हुआ था···पर उसकी नजरें किसी दूसरी बेचैनी मे भटक रही थी, या कि वे अब लोटा हथियाने का तरीका सोच रही थी। ऐसा लगता था कि उसके गले मे कौर अटक गया था जिसे धसकाने के लिए पानी की तत्काल जरूरत थी। उसकी आँखें पहले की तरह चारो तरफ फिर दौड़ने लगी थीं···नदारत था तो उन्हें ताल देनेवाला आ···आ···। गले के उस सुराख को शायद आटे की लुब्दी ने मूँद दिया था।

उसका मुँह बन्द था। थोडी देर को वैसे ही अपनी आँखो को चारों तरफ दौडाते हुए···जैसे वह कहीं अटकी बैठी रही। बीच-बीच मे हथेली पर अब भी रखे लड्डू के बड़े टुकड़े की तरफ भी देख लेती···फिर अगली उचक में नजरें इधर-उधर बैठे लोगों पर चली जाती। कुछ देर यही क्रम चलता रहा···थोड़ा ढीले-ढाले ढंग से। जल्दी ही सामने और लड्डू पर बारी-बारी से देखने में तेजी आने लगी···फिर यों ही कुछ सोचते हुए··· या कि एकाएक किसी रौ मे आकर उसने लड्डू के टुकड़े को खिडकी के बाहर फेंक दिया और चादर से अपने नंगेपन को ढकते हुए आ··· आ···को फिर टटोलने लगी। थोड़ी ही देर में आ···आ··· का स्वर गले के सुराख से पहले की तरह झरने लगा था।

भाऊ कलेवा खत्म कर चुके थे। लोटे से पानी पीकर उन्होने एक उम्दा डकार ली, अपनी मूँछों को अँगूठे और उँगली से सँवारा और खिड़की के बाहर हाथ निकालकर धोने लगे, बायें हाथ से लोटे का पानी गिराते हुए।

घूमती हुई उसकी नजरें अब वहाँ आकर ठहर गयी। वह उनके हाथ धोने को उसी गहराई से ताक रही थी जैसे थोड़ी देर पहले उसने लड्डू को फोड़ते-खाते जाते देखा था। हाथ धोने की एक-एक हरकत पर, जैसे उसकी फटी-फटी आँखें छपके की तरह आ चिपकती थी। वहाँ से आखिर वे उखड़ीं, सामने की तरफ उसी ढंग से चिपक जाने के लिए।

आ···आ···अपनी पटरी पर अलग चल रहा था ।

अगली बार जब उसने लोगों को देखना खत्म कर खिड़की की तरफ गर्दन मोड़ी, तो झटके में भाऊ के बाहर निकले हाथ और लोटे पर थूक दिया ।

भाऊ थरथरा गये···सँभल ही नहीं पाये । *काँपते हाथों से उनका* लोटा छिटककर नीचे गिर गया और एक टन्न-सी आवाज़ के बाद खन-खनाता हुआ, एक दलदल भरे पोखरे में घुसकर विला गया ।

"ए बुढिया का करहइयाँ है तँ, यौ बता···" भाऊ ने गुस्से में डण्डा उठा लिया था—"मोर लोटा निकाल···'

"छोड़िए···अब वह तो गया···" पीछे से किसी ने सुझाया, "पागल है ।"

"का गल्ती कीन्ही एहिलर चढाय के···"

भाऊ पस्त थे । अपना सामान समेटकर दूर करोढ़ लाये । क्या भरोसा, वह जो चाहे नीचे फेंक दे । भाऊ की देखा-देखी आस-पास बैठे और लोग भी अपने सामान की हिफ़ाज़त के लिए चौकन्ने हो गये । वे अब उसे हल्की दहशत से ताक रहे थे ।

उन सबसे दूर वह अपनी आ···आ···में छकछकाती चली जा रही थी ।

प्रत्यवरोध

रेलगाड़ी से उतरते ही ऐसा लगा, जैसे वे रंगों के बीच उतर आये हों। चारो तरफ रंग-ही-रंग फैले थे, ज्यादातर पीले, गेरुए और उनके आस-पास के। हर दूसरे यात्री की पोशाक इन्ही रंगों मे से थी, जहाँ-तहाँ बड़े-बड़े पोस्टर भी इन्ही रंगों मे दीवार पर तिलक-से खिंचे हुए थे। सामने लहरें मारता हुआ उत्साही जनसमूह था—उत्साह, जिससे मेला बनता है। चारों तरफ उनके स्वागत का आलम था, एक तरफ शहर की वैष्णवी-सभा स्वागत के बोल लगातार बोले जा रही थी, दूसरी तरफ नगरपालिका की तरफ से यात्रियों को बड़े ही नम्र स्वर मे हिदायतें दी जा रही थी—"कृपया बायी तरफ से चलें, जिन यात्रियों ने टीके न लगवाये हो, वे बाहर पण्डाल पर टीके लगवा लें—यह उनके स्वास्थ्य के लिए बेहद जरूरी है, दुर्घटना होने पर पुलिस से फौरन सम्पर्क स्थापित करें, गन्दी चीजो से बचें और गन्दगी न फैलाएँ···।"

वे काफी दूर से आये थे—वे तीन। हरिद्वार और हर की पौडी के दर्शन की उमंग मन में कब से थी। कुम्भ-स्नान की बस सोचते रह जाते थे···और कुम्भ का क्या—दो-तीन यों चूके और दो-तीन और गये, तो जीवन खतम! इतनी दूर आने के लिए वैसे भी खासी हिम्मत चाहिए। आखिर एक-दूसरे का हौसला बँधाते हुए तैयारी हो गयी और वे एक साथ कुम्भ और हर की पौडी के दर्शन, दोनों का पुण्य-लाभ उठाने चले आये थे।

उतरते ही उन्हे ऐसा लग रहा था कि सभी को उनका बड़ा ख्याल है, जैसे वे किसी बड़े घर की बरात में आये हों और सब तरफ

से लोग उनकी अगवानी के लिए आतुर हो !

पहाड़ की गोद मे फैला वह रंग-बिरंगा शहर पुराने जमाने की किसी यज्ञ-भूमि की याद दिलाता था···जिसके चर्चे उन्होने सिर्फ पढ़े ही थे। तीनों पुलकित थे—उनके जीवन की साध पूरी हो रही थी।

स्टेशन के बाहर कई तरह के पण्डाल थे। पुलिस, टीका, प्राथमिक-चिकित्सा, धर्मशालाओ के एजेण्ट लोग—अनेक स्वतन्त्र सेवा-सस्थाएँ। सब-के-सब जैसे कृतसंकल्प थे कि उन्हे किसी किस्म की परेशानी न हो। उतरते ही उन्होने हर की पौड़ी का रास्ता पूछा था—बताया गया कि सामने की सडक ही बायीं तरफ सीधे हर की पौड़ी पर निकलती है।

इतने पास ! सब-कुछ कितना सुविधाजनक था, पर थोडा आगे जब वे उस बिन्दु पर आये जहाँ से सडक को देखा जा सकता था, तब सिर्फ आदमियों के सिर-ही-सिर नजर आये। ठीक सामने एक तरह क तिराहा था। वहाँ शिव की मूर्ति चारो तरफ उफनती हुई यात्रियो की भीड को कल्याण बाँट रही थी।

वे उस तरफ बढने लगे और मूर्ति तक ही आ पाये होगे कि एका-एक सीटियाँ गूँजने लगी। रस्से का एक लपलपाता फंदा, जिस भीड़ के वे हिस्से थे, उसको सामने से कसता हुआ सडक को एक किनारे से बाँध-कर खड़ा हो गया।

उनकी समझ मे कुछ नही आ रहा था। सामने जहाँ तक नजर जाती थी, सिवा आदमियों के सिरो के और कुछ भी नही दिखायी दे रहा था। दूर से बैण्डों और नगाडों की आवाज ऊपर उठ रही थी। ढकी हुई हर की पौडीवाली सड़क ऊपर उठ रही थी, तेजी से चौड़ी होते हुए—जैसे-जैसे जनसमूह को बीच से हटाकर इधर-या-उधर किया जा रहा था—कुछ-कुछ वैसे ही, जैसे नाली को साफ करने के दौरान फावड़े भर-भर कीचड़ नाली के इधर-उधर डाला जा रहा हो। मेड से फूटे पानी की तरह बहती हुई भीड़ के छोटे हिस्से के साथ वे रस्से तक आगे बढ आये तो सामने से सिपाही उन्हें पीछे धकेलने लगे। पीछे से कोई सख्त आवाज सिपाहियों का साथ दे रही थी—"ए···ए···चलो-चलो। पीछे चलो···ए···बुड्ढे, आगे कहाँ जा रहा है···देखो कोई आगे न जाने पाये,

साले जान-बूझकर मरना चाहते हैं···।"

पीछे कुएँ की छायादार जगत थी जिस पर से पुलिस का एक आदमी माइक पर से लगातार बोले जा रहा था—

"आप लोग हमे अपनी सेवा करने दीजिए। अभी थोड़ी ही देर में साधुओं का जुलूस यहां से गुजरनेवाला है। जब तक यह न गुजर जाये, तब तक जो जहां हो, वहीं खड़ा रहे। आपके इधर-उधर जाने की कोशिश करने से दुर्घटना हो सकती है। एक ही जगह खड़े रहें, साथ ही अपनी जेबों का ध्यान भी रखें, कहीं ऐसा न हो कि आप तमाशा देखते रहें और इस बीच कोई आपकी जेब साफ कर जाये! इसके लिए हम आपकी कोई मदद नहीं कर सकेंगे···।"

अधेड़ उम्र के उस आदमी की आवाज कुछ-कुछ बैठने लगी थी। ऐसा लगता था कि वह अर्से से कुछ ऐसे ही जुमलों को माइक पर बोलता चला आ रहा था।

वे तीनों रोक दिये गये थे और अब रस्से से बँधे खड़े थे, एक तरह से। सामने सड़क साफ-सुथरी उछल आयी थी। उसके दोनों तरफ उलझी हुई झाड़ियों-सी आदमियों की कतारें थीं। उन्हें न इधर आने दिया जा रहा था, न उधर—अपनी जगह खड़े रहने का अभ्यास कराया जा रहा था।

थोड़ी देर में सड़क के सामनेवाले छोर पर कुछ झण्डे दिखायी दिये। नगाड़ों और बैण्डों की आवाजें क्रमशः तेज पड़ने लगीं—अखाड़ों का जुलूस शहर के भीतरी हिस्से में पहुँच रहा था। अखाड़ों के ठहरने की व्यवस्था नदी के उस पार और शहर के बाहर की गयी थी, लेकिन अपने पुण्य-लाभ के साथ-साथ उन्हें जनसाधारण को पवित्र भी करना था। उनके दर्शन सुलभ कहां थे! इसलिए जब वे इस नगरी आये ही थे, तो वहां एकत्र जनता को आशीर्वाद भी देते जाना चाहते थे। अखाड़ों के जुलूस में कौन आगे चलेगा, कौन पीछे—इसको लेकर खासी लड़ाई होती थी, क्योंकि उनके भी रैंक्स थे। पर हाल ही में चलने के क्रम का फैसला अदालत से हो गया था, जिसे सिर्फ बड़ी अदालत का हुक्म मानने-

वाले इन देवदूतों ने मान लिया था। रस्से के इस पार हल्की-फुल्की बातें चल निकली थीं।

"नहाकर लौट रहे हैं।"

"और क्या, जब साधू-संन्यासी नहा लेते हैं, तभी तो और लोगों को नहाने को मिलता है !"

"कुम्भ-स्नान के लिए साढे तीन बजे रात का मुहूर्त था, महात्मा लोग ठहरे, ठीक उसी घड़ी स्नान किया होगा ! सबके बस की बात है क्या, उस समय ठण्डे पानी में नहाना !"

"जुलूस निकलने के बाद हर की पौड़ी पर नहाने के लिए रास्ता खुल जायेगा।" तीनों के मुखिया ने बाकी दो को दिलासा दी।

"क्यों भैया, हर की पौडी का रास्ता किधर से है ?" फेंटे पर की भीड़ के पीछे एक बुड्ढा पुलिसवाले से पूछ रहा था। शायद अभी आया था।

"कहीं से नहीं है।" पुलिसवाला बोला।

बुड्ढा अचकचाकर देखने लगा। क्या वह गलत स्टेशन पर उतर गया, या हर की पौडी किसी और शहर में है ?

"हम बड़ी दूर से आये हैं बेटा…।"

"तो मरेगा क्या ? उधर से तुम्हारे बाप आ रहे हैं।"

"घबराओ नहीं, जुलूस निकलने के बाद रास्ता खुल जायेगा और इत्मीनान से नहा लेना, अभी जुलूस देखो…मेला की एक चीज तो यह भी है…।" एक आदमी ने उसे समझाकर भीड़ में शामिल कर लिया।

"अजी, अभी कहाँ से नहाने को मिलेगा ? महात्माओं के स्नान के बाद घाट अच्छी तरह से धोये-धाये जायेंगे ताकि साधुओं के शरीर से गिरी हुई बूँदों को आप लोग कहीं कचर न डालें !"

"चलो खैर, उसमें कहाँ ज्यादा समय लगता है ? घाट धोना चालू भी हो चुका होगा। जुलूस गुजरा कि उधर स्नान शुरू हुए।" उनके मुखिया ने फिर बात को अपनी तरफ मोड़ने की कोशिश की।

"कौन आ रहे हैं ?" फिर कोई नया यात्री था, ठेलपेल करते हुए अन्दर घुस आया था।

'साधू लोग हैं, स्नान करके लौट रहे हैं।" उनके मुखिया ने इस बार कुछ ज्यादा ही आत्मविश्वास से कहा। पास ही खड़े पुलिसवाले को यह हेकड़ी जँची नहीं।

"लौट नहीं, स्नान करने जा रहे हैं।" उसने दुरस्त किया और सीटी बजाकर खाली रास्ते में दौड़ गया, जहाँ पता नहीं कहाँ से एक कार घुस आयी थी। चार-पाँच पुलिसवालों ने गाडी को घेर लिया था और उस पर कड़े शब्दों की बौछार सब तरफ से चालू थी। चलानेवाला बेचारा भीड़ में एक तरह से कैद था और विक्षिप्त-सा देखे जा रहा था। सामने जहाँ सडक खुली थी, वहाँ जाना मना था। पीछे भीड-ही-भीड थी। बायी तरफ नाली और उससे सटी भीड़ की पतली कतार थी, दायी तरफ भीड और फिर घर-ही-घर थे। कार को कहाँ ले जाये! आखिर थोड़ा रास्ता साफ करके घरों की ही तरफ एक गली में कार को ठेल दिया गया।

कार को ठेल-ठालकर जब वह पुलिसवाला अपनी जगह पर आ गया, तब उनके मुखिया ने उसे कुरेदा, "क्यों भाई, क्या साधू-महात्मा लोगों ने साढे तीन बजे स्नान नहीं किया?"

"ये…?" पुलिसवाले ने अपना मुँह उधर को कर लिया।

"इन्हें नहाने और पूजा-पाठ से ज्यादा चिन्ता अपनी मिल्कियत दिखाने की रहती है। पूरे शहर का चक्कर लगाते हुए जायेंगे, फिर उस पार से हर की पौड़ी पर पहुँचेंगे, स्नान करने। स्नान करके पूजा-पाठ करेंगे, घाटों को अपने सामने धुलवायेंगे, फिर वापस लौटकर अपने अखाडों में जमेंगे, तब तक हर की पौड़ी छिकी रहेगी। कहीं छह बजे जाकर जनता के लिए स्नान खुलेगा…वह भी एक घण्टे के लिए, क्योंकि शाम होते ही आरती का समय हो जायेगा और तब फिर मन्दिरों को छेंक दिया जायेगा—साधुओं के लिए…।"

पीछे से कोई नौजवान था वह। उसके बायें होंठ के कोने पर व्यंग्य की एक लकीर लगातार उठ-गिर रही थी। उसने आगे समझाया, "मतलब असली अमृत पहले वे पियेंगे, देवताओं और असुरों में भी तो अमृत के लिए छीना-झपटी मची थी, समझे?"

"तो साढ़े तीन बजे से घाट सबके लिए खुला रहा होगा! बड़े पुण्यात्मा होंगे वे, जिन्होंने उस घड़ी स्नान किया होगा।"

"महात्मा लोगों के पहले भी वहाँ क्या कोई स्नान कर सकता है?" नौजवान बोला, "यहाँ तुम्हारी नहीं, उनकी चलती है।"

जुलूस का पहला सिरा चौराहे पर आ पहुँचा था—नागा बाबाओं की ढीली-ढाली पल्टन, लेफ्ट-राइट करती हुई। बीच में कहीं एक झण्डा जिसमें अखाड़े का नाम लिखा था, जैसे स्कूल की प्रभात-फेरियों में स्कूलों का झण्डा होता है या छब्बीस जनवरी के जुलूस के कुछ हिस्सों में होता है। फिर महात्मा की सवारी। ऊपर सजा हुआ सिंहासन, जिस पर खाये-पिये शरीर को धारण करते हुए महात्माजी—दाहिने हाथ से जनता को शान्ति बाँटते हुए, परम प्रसन्न मुद्रा में। महात्मा की सवारी को उनके चेले-चपाटे घसीटते हुए आगे ले जा रहे थे। सवारी खचोरने के लिए जानवर चाहिए थे···पर जानवरों को शहर में घुसने की इजाजत नहीं थी, या कि फिर इसी तरह निकलना महात्माओं की शान थी। महात्माओं से ज्यादा महत्त्व की चीज उनके सिंहासन थे—कुछ सोने के, कुछ चाँदी-सोने के मिले-जुले, कुछ सिर्फ चाँदी के, कुछ सिर्फ सोफों के थे, जिन्हें मखमली गलीचों से ढक दिया गया था। सोने-चाँदी के चमचमाते सिंहासनवाले जुलूस के आगे थे। जो जितने बड़े सिंहासन पर आसीन था, वह उतना ही बड़ा महात्मा था। एक अखाड़े और दूसरे अखाड़े के बीच साधुओं की सेना चल रही थी। किसी-किसी अखाड़े के आगे-आगे बैण्ड-बाजे थे, जो फिल्मी धुनें निकालते हुए चल रहे थे।

जुलूस के शुरू होते ही रस्सियों पर भीड़ और गसने लगी। लोगों को देखने में परेशानी हो रही थी। कुएँ की जगत पर ज्यादातर पुलिसवाले अपने बेंत लिये खड़े हो गये थे और इत्मीनान से जुलूस को देख रहे थे। उनमें से इक्के-दुक्के जो धार्मिक प्रवृत्तिवाले थे, साधुओं को देखकर बीच-बीच में हाथ भी जोड़ते थे। औरतों को धक्कम-धुक्का से बचाने के लिए कुएँ की जगत के इर्द-गिर्द फेंका जा रहा था और वे लपक-लपककर नागा बाबाओं को प्रणाम कर रही थीं।

जुलूस दो घण्टे तक चला। अखाड़ों के निकल जाने के बाद भी

जुलूस फौरन खत्म नही हुआ। उतना मोटा अब वह जरूर नही रहा था, थोड़ा-थोड़ा करके अलग-अलग गिरोहो के साधू-बाबा चीमटे लिये हुए अब भी निकल रहे थे। यह सिलसिला भी जल्दी खत्म हो गया। रस्सेके इधर फँसे लोगों का ख्याल था कि अब उन पर से फेंटा हटा लिया जायेगा और वे मुक्त हो सकेंगे। लेकिन जुलूस की उस पतली धार के खत्म होते ही एक कार सड़क के सामने जाने के लिए खड़ी थी। उसके लिए रास्ता तेजी से साफ किया जा रहा था। उस पर उतने ही जोर से सलामियाँ बरस रही थीं, जैसे फेंटे के इधरवालों के लिए पहले गालियाँ बरस रही थीं। पुलिस के एक-दो अफसर कमान की तरह उसके इर्द-गिर्द झुके हुए नाच रहे थे। कोई वी. आई. पी. थे। लेकिन कार न उधर जा रही थी, न इधर। शायद यह तय नहीं हो पा रहा था कि वी. आई. पी. को कहाँ स्नान कराया जाये! आखिरकार कुछ तय हुआ। एक सिपाही रास्ता दिखाने के लिए लपककर आगे की सीट पर बैठ गया। कार फक्क से आगे बढ़ गयी और पल-भर में ओझल हो गयी।

तीनों अब भी रस्से मे बँधे खड़े थे। सामने सूनी सड़क देख-देखकर उनके मुँह मे पानी आ रहा था। काफी दूर तक सीधी, फिर थोडा घूमकर, फिर सीधी होती हुई काली सडक···। उस सड़क के पार वह था, जिसकी कल्पना सँजोये वे घर से चले थे, जहाँ जयन्त ने कभी घडा रखा होगा, पिछली रात जहाँ अमृत की बूँदें गिरी होंगी!

फेंटा छुड़ाने के लिए कसमसाहट शुरू हुई। वी. आई पी. के निकल जाने के बाद अब और कोई व्यवधान उनके हिसाब से रास्ते में नही था, कि तभी गली की तरफ से जनसमूह को चीरते हुए वही कार सडक पर दाखिल हुई, जिसे थोडी देर पहले दुत्कारकर एक तरफ धकेरा दिया गया था। पहले जो गालियो से बात कर रहे थे, वही अब उसकी मदद के लिए आमादा दिखते थे। कारवाले ने आखिर अपने औजार का इस्ते-माल किया था, कुछ रुपये फेंके थे, और अब उसके लिए सड़क साफ की जा रही थी। जो थोड़ी देर पहले उसे खा जाने को तैयार थे, अब उसके नौकर थे। वह कार भी सामने के रास्ते से निकल गयी, उन सबों की तरफ धूल उड़ाती हुई जो रस्सी मे फँसे खड़े थे। ऐसा लगा कि रस्सा अब

हटनेवाला है, क्योंकि सड़क का दूसरा कोई इस्तेमाल अब नहीं बचता था। दूसरे, रस्से के इस तरफ खींचातानी बढ रही थी।

सिपाहियों का एक गिरोह रस्से के उस पार के खुले मैदान में खडा सलाह-मशविरा कर रहा था। वे खुली हवा में सांस लेते हुए जुलूस के शान्तिपूर्ण ढंग से निकल जाने पर सन्तोष अनुभव कर रहे थे। इधर भीड फटी पड़ रही थी। स्टेशन से उतरनेवाला यात्रियों का हर नया रेला एक और पर्त की तरह पीछे आ चिपकता था। एक घण्टे के उस क्रम ने भीड़ को अच्छा-खासा घना कर दिया था। ये तीन न सामने जा सकते थे, न पीछे। इनमें से एक लघुशंका से बुरी तरह पीड़ित था और उसके चेहरे की नसें साफ-साफ खिंचती दीख रही थी। भीड मे छोटी-छोटी लहरें उठनी शुरू हो गयी थी। पीछे से आगे बढ़ने के लिए बेचैनी के धक्के आ रहे थे।

रस्से पर तैनात सिपाही हर नये धक्के पर और भी ज्यादा क्रुद्ध होते कि उनकी बगैर इजाजत वे सब जाने की तैयारी कर रहे थे··· और वे अपने और साथियों की मदद से आदमियो के उस झुण्ड को पीछे की तरफ ढकेल देते। इससे धक्के की लहरें बडी होकर पीछे की तरफ जाती थी। लहरें धीरे-धीरे लम्बी और ज्यादा घनी होती गयी। *लोगों के पैरों से जमीन की पकड़ छूट रही थी। पीछे से जब रेला आता* तो ये तीनों जो करीब आगे थे, गिरते-गिरते बचते। भीड़ के बीच में जाने कहाँ से एक औरत बच्चे के साथ आ फँसी थी और जब-जब रेलों में उसका बच्चा पिसता, वह चिल्लाती, तो बराबरी से उसके साथ का पुरुष अलग-बगलवालों से झगड़ता था। सिपाहियो ने रूल का इस्तेमाल करना शुरू किया। वे भीड के अन्दर तो जा नहीं सकते थे, इसलिए जब-जब रस्से पर आगे के लोग गिरते, वे उन पर रूलें बरसाते। हर नये धक्के के साथ उनके वार और तेज हो रहे थे। इस वार इन तीन मे से एक उनकी चपेट मे आ गया। रूल जो उसके कन्धे पर पड़ा, तो वहीं पकड़कर बैठ गया। उसके बैठते ही कई-एक उसे खूँदते हुए रस्से के आगे खाली मैदान पर गिरने लगे।

पुलिस का विचार-विमर्श चालू था। हर की पौड़ीवाला रास्ता अब

भी बन्द रहना था, क्योंकि जुलूस दूसरी तरफ से शहर का चक्कर काट-कर वही पहुँचनेवाला था। जब तक जुलूस वहाँ नही पहुँच जाता, तब तक कुछ खास लोगो को वहाँ स्नान कराया जा सकता था। आखिर बद्रीनाथजी मे तो खुलेआम पाँच सौ या बारह सौ की अलग-अलग तरह की आरती होती है। हर जगह श्रेणियाँ होती है—रेल में भी।

पुलिस ने जल्दी ही तय कर लिया। एक रस्सा सड़क को सामने से बाँधता हुआ तनकर खड़ा हो गया। जिधर बस्ती थी, उधर की गलियो को नहरो की तरह खोल दिया गया, जहाँ जनसमूह का उफनाता पानी बहा दिया जाना था। गलियो के मुँह चौड़े थे। अन्दर वे जरूर सँकरी होती चली गयी थी, पर इधर-उधर कई छोटी-छोटी कुलियो के बिल-जैसे थे, जहाँ वह लावारिस पानी समा सकता था।

इन सबको छोड दिया गया था। वे स्वतन्त्र थे, कही भी जा सकते थे—सिर्फ वहाँ नही, जहाँ जाने के लिए वे इतनी दूर से आये थे। वहाँ जाने के सभी रास्ते बन्द थे।

"अरे, वही ऐसा क्या धरा है ? गंगा मैया तो पूरे शहर मे एक ही है। कही भी स्नान कर लो…।" उनसे कहा जा रहा था।

घरघराते हुए इंजन को दिखा-दिखाकर और सवारियाँ बटोरी जा रही थी, गो कि बस खचाखच भर चुकी थी, ड्राइवर की सीट खाली थी।

"कितनी देर मे जायेगी ?"

"बस एकदम चले, अन्दर तो धँसो, भापे !"

"अन्दर जगह ही कहाँ है ?"

"अरे, घुसो तो महाराज, जगह-ही-जगह है।"

अन्दर चार की सीट पर दस-दस बैठे थे और खड़े हुओं का तो खैर, एक-एक पर तीन-तीनवाला हिसाब था।

तीनों को अन्दर करके कण्डक्टर फिर टेर लगाने लगा।

मेले की असल भीड़ को पीछे छोड़ते हुए आदमियो के छोटे-बड़े जत्थे फूटती नहरों की तरह बस-अड्डो की तरफ बहे आ रहे थे। इन

तीनों को पुण्य की कमाई खासी महँगी पड़ी थी। एक को तो हल्की चोट भी आ गयी थी। उसे कहीं दिखाने के पहले उन्होंने स्नान-जैसा कुछ तो कर ही लिया, जहाँ कहीं मौका लगा था। क्या भरोसा फिर यह भी न मिले !

कोई आध घण्टे बाद अब बस चली, तो 'गंगा मैया की जय' अन्दर गूँजी। किराया-वसूली पीछे से शुरू हुई। सब नगदी-नगदा था। रसीद-वसीद, टिकेट-विकेट का चक्कर मेले की भीड़ में कहाँ ! आगे का कण्डक्टर एक शरीफ दिखते आदमी को किसी सीट पर धँसाने के चक्कर में था, "मालिक हैं।" उसने धीरे-से आगे बैठी कुछ सवारियों से कहा।

"तो इतना ठूँसते क्यों हो ? पैसे लेते है, तो बैठने की जगह तो देनी चाहिए। हम सरकारी बस में आते, तो ठीक रहता।" कोई बौखला पड़ा था।

शरीफ मालिक, या वे जो भी थे, शर्मा कर 'नहीं-नहीं' कर गये। कण्डक्टर बड़बड़ाता रहा। रेल मे जैसे बैठने की जगह ही मिल जाती है, पैसे देने के बाद। ये तीनों पीछे थे। उनका मुखिया पीछे के कण्डक्टर की डाँट खा रहा था, दूसरा सकपकाया खड़ा था और तीसरा अपना सिर पकड़े गठरी बना हुआ नीचे कहीं बैठा था।

"मुफ्त सवारी करना चाहते हैं। पहले तो बड़े आराम से बैठ जायेंगे।"

"कौन आराम से बैठा है, बबुआ ?"

"अच्छा निकाल पैसा, ज्यादा वक्त नही।"

"यह ज्यादा पैसे माँगता है !" इस बार मुखिया ने आवाज जरा तेज की।

"जितना टिकट होगा, उतना ही तो लूँगा !" कण्डक्टर आवाज और तेज करके बोला।

"क्या तकलीफ है इस बुड्ढे को ?" उधर से ड्राइवर बड़बड़ाया। वह एक गुण्डा छाप कठैठ नौजवान था—बुश्शर्ट पूरी खोले हुए, छाती की गठन और घने बालों का प्रदर्शन करता हुआ, "ज्यादा बक-बक करता

हो, तो गाडी रोक देता हूँ, उतार दो साले को यही जंगल में !"

तब तक इन दोनों पर कण्डक्टर के दूसरे साथी भी झुक आये थे। वे अकेले पड़ गये थे। उस भीड़ मे किसी को भी यह समझने की फुर्सत नही थी कि उससे कितना पैसा और क्यो मांगा जा रहा है। सब इसी मे खुश थे कि पुण्य कमाकर घर वापस लौट रहे है। वे तीनो किसके बल पर लडते ? पराया देश, *यह भी तो पता नही था कि किराया* वाकई कितना है, पर इतनाज रूर लगता था कि बहुत ज्यादा लिया जा रहा है। कुछ कहते, तो उन्हें जंगल मे उतार दिया जाता। उनके साथी को अस्पताल जल्दी ही दिखाना था। मुखिया से आखिर जो भी मांगा जा रहा था, दे दिया। मामला ठण्डा पड़ गया और झगडा 'बोल गंगा मैया की जय' मे दब गया।

एक बात अच्छी थी कि ड्राइवर बस तेजी से हांकता था, इसलिए हवा खूब आ-जा रही थी। जहाँ चौकी पडती, वहाँ कण्डक्टर का खड़े लोगों के लिए एकदम बैठ जाने का हुक्म होता। जगह थी नही, पर वे बेचारे *एक-पर-एक बैठ जाते और कही भी अपनी मुड़ी छिपा लेते।* कण्डक्टर का अहसान था कि उन्हें ले जा रहा है, वरना मेले में ही न जाने कितने दिन और पडे रहना होता।

रास्ते मे एक जगह एक भारी-भरकम आदमी खाकी वर्दी मे एक किनारे रूल और हैट लिये खड़ा था। उसने अपने रूल से इशारा किया। फिर उसके कारिन्दे ने एक कदम आगे बढकर बस को रोकने के लिए हाथ दिखाया। बस रुक गयी। पुलिस के कोई साहब थे। अगले स्टेशन तक जाना चाहते थे।

"आ जाइए साहब, पर सीट नही है।" ड्राइवर बोला।

"कोई बात नही," कहते हुए वह बस के अगले दरवाजे से चढ आये और सबसे अगली सीट के लिए आदमियो को रौंदते हुए निकल गये। सीट के बीचों-बीच वे दो आदमियों की गोद मे बैठ गये। उनका कारिन्दा भी उसी तरीके से उससे पीछेवाली सीट पर बैठ गया। जिनकी जाँघें दबी, वे थोड़ा इधर-उधर स्वयं ही आ खिसके। 'बोल गंगा मैया की *जय' और बस फिर आगे बढ़ गयी।*

अगले स्टाप पर एक साफ-सुथरी पोशाकवाला लड़का बस में दाखिल हुआ। उम्र कोई अठारह-उन्नीस होगी। कण्डक्टर से उसने तीन सौ रुपये लिये। मालिक लगता था। चहल-कदमी करते हुए किसी पुलिसवाले से उसकी झड़प हो गयी। पुलिसवाला कुछ ऐंठने के लिए पीछे लगा हुआ था···।

"देखो दीवानजी," आखिर लड़के ने कहा, 'तुम अपना रास्ता नापो। ये भभकियाँ कहीं और छोड़ना, यहाँ धन्धा ही यही है···पुलिसवालों से उरझना-सुरझना।"

"ऐसी बात है, तो मैं कुछ नहीं कहता।"

दीवानजी एकदम ढीले पड़ गये थे, "जब धन्धा ही यही है," कहते हुए कुछ झेंपते-से वे कहीं बिला गये।

कोई दस-बारह मील आगे फिर बस को हाथ दिया गया। इस बार पुलिस-जैसी वर्दी में चार-पांच लोग और एक-आध जीपें खड़ी थीं। ड्राइवर ने रुकने-जैसा दिखाया, पर फिर गाड़ी और तेज भगा दी।

"तेरी ऐसी-की-तैसी।" ड्राइवर बड़बड़ा रहा था।

"ए. आर. टी. ओ. था," छोटा कण्डक्टर बोला और पीछे देखने लगा।

"ले बेट्टा, उसने जीप भगा दी," उसने आगे कहा।

छोटे कण्डक्टर के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, ड्राइवर का चेहरा भी सूखने लगा, लेकिन वह गाड़ी को दौड़ाता रहा। कुछ ही दूर आकर जीप हार्न बजाती हुई बस के आगे हुई और बस को रोक लिया गया। जीप का ड्राइवर बस के ड्राइवर को लेने के लिए इधर आया। बस-ड्राइवर का चेहरा अब तक पूरा सूख चुका था। उतरकर वह अपने कण्डक्टरों के साथ जीप तक गया। उसे देखते ही जीप के अन्दर से एक नाटे, काले-काले-से अफसर गरज उठे, "साले, तू क्या सोचता है, भाग जायेगा ?"

"आपसे भागकर कहाँ जा सकता हूँ, मालिक ?"

"तो गाड़ी क्यों नहीं रोकी ?"

"देख नहीं पाया, हुजूर !"

"तुझे कोतवाली में अच्छी तरह दिखाऊँगा। जब तेरी नजर खराब है, तो गाड़ी कैसे चलाता है, तेरा लाइसेंस कैंसल करवा दूँ?"

बसों की सवारियाँ उतर-उतरकर इधर-उधर फैलने लगी थी। आठ-दस लोग जीप तक पहुँचकर तमाशा भी देखने लगे थे। छोटा कण्डक्टर उस भीड़ के पीछे फुसफुसा रहा था। बारी-बारी से हर साफ कपड़ेवाली सवारी तक पहुँचते हुए, "आप जाकर समझाइए न कुछ," आखिर एक को पटाकर वह जीप तक ले गया।

"साब, गलती इससे हो गयी, अब माफ करें···हममें से कुछ को दिल्ली जाकर गाड़ी पकड़नी है।"

"तो मैं क्या करूँ? आपको इन्हें समझाना था और वह भी काफी पहले।"

"साहब···," कण्डक्टर हाथ जोड़कर बोला, "दरोगाजी भी बस में बैठे हैं, उन्हें भी देर हो रही है।"

"बैठे होंगे···यह गाड़ी भगाता रहा और वे कुछ नहीं बोले, शर्म की बात है···!"

"रोक देते, तो अच्छा था। अब क्या होगा?" एक आदमी सड़क के किनारे इकट्ठे कुछ आदमियों से कह रहा था।

"क्या पता?" दूसरे ने कहा।

"क्यों भाई, काहे की चेकिंग करते है?" इन तीनों का मुखिया भी उतर आया था।

"ज्यादा सवारियाँ है।" दूसरी सवारी ने बताया।

"और ज्यादा किराया वसूल करने की नहीं?"

इस बार दूसरा कुछ नहीं बोला और इधर-उधर हो गया। रूल और हैटवाले अपनी सीट पर जमे-जमे तमाशा देख रहे थे। वे दूर पर थे। उन्हें कोई जल्दी नहीं थी—पैसे बचेंगे, और उधर टी. ए. बनेगा!

"साहब, आप कुछ समझाइए न जाकर!" एक ने उन्हें कुरेदा, "शायद मान जाये, देखिए देर हो रही है। नुकसान किसी का नहीं है, सिर्फ सवारियों के समय का है।"

वह 'हुँह' करके बैठे रहे। उधर जीप का अफसर अब किसी सवारी

को डाँट रहा था, "आप जानते हैं। मैं आपको अरेस्ट करवा सकता हूँ। समझ में नहीं आता, आप ही लोगों के रवैये ने तो उन सालों का दिमाग खराब कर दिया है, वरना इनकी मजाल ! आपको अगर कोर्ट में जाना पड़ेगा, तो टी. ए., डी. ए. मिलेगा। मैं भी सरकारी नौकर हूँ, यह कोई बात है कि पहले आप हर चीज का जवाब देते रहें और बाद में कहें कि मैं दस्तखत नहीं करूँगा।"

कुछ लोगों के समझाने-बुझाने पर और कुछ डर में आकर उस सवारी ने गवाही के दस्तखत कर दिये। अफसर का हुक्म हो गया कि गाड़ी पीछे जायेगी, सबसे पास के स्टेशन। गाड़ी जब्त की जायेगी। सवारियों को परेशानी नहीं होगी। उन्हें वे सरकारी गाड़ी से भिजवायेंगे। और किराया ? बसवालों से वसूल किया जायेगा और सबको लौटाया जायेगा। ड्राइवर को थाने ले जाया जायेगा।

ड्राइवर और कण्डक्टर ने एक-दो सवारियों से सिफारिश और पहुँचायी लेकिन साहब सख्त थे। एक बार जो फैसला हो गया, हो गया। ये तीनों खुश थे, उनके साथी को दवा मिलने में देर होगी, इस अहसास के बावजूद। रूलों, बेंतों और ललकारों से बिंधे हुए उन्हें पूरे दिन इधर-से-उधर धकियाया जाता रहा था। वे सोचते थे, बस में चढ़कर उस क्रम से छुटकारा पा सकेंगे। लगातार धकियाये जाने के अहसास की जगह कहीं थम पाने का सुकून होगा, तो यहाँ सीधा निशान बनकर उन्होंने जलालत झेली थी। बस के बाहर का सबकुछ फैला हुआ था। उनके साथी को पड़ी मार भी इधर-उधर बिखर गयी थी, पर इस सिमटे-से घेरे में बस से उतार दिये जाने की धमकी अब भी गड़ रही थी। ईश्वर कहीं है कि आज ही लगे हाथ इन गुण्डों को सबक मिल गया। वे तीनों कितनी तकलीफ में आये थे, उनसे पैसे भी ज्यादा वसूले गये थे। थोड़ी देर होगी, जो होगी, साले पकड़े तो गये ! पैसे चौगुने लेंगे, बैठने की जगह नहीं मिलेगी, मिलेगी तो डाँट-धमकी। बस, एकाध रोब-दाब वालों पर मस्खा लगा दिया, बाकी सबको कूड़ा-करकट, भेड़-बकरियाँ समझते हैं'''।

जब सब कारनामे फेल हो गये, तो ड्राइवर-कण्डक्टर वापस गाड़ी

हाथ-मुँह धोने के लिए उतर गये। पढ़े-लिखे जो कुछ थे, वे चाय की एक दुकान पर खटाखट आर्डर देने लगे।

मुश्किल से पन्द्रह मिनट गुजरे होंगे कि बस का हार्न एकाएक तेजी से आने लगा। सारी सवारियाँ इधर-उधर से दौड़कर बस पर पहुँची। एक गोल-मटोल सेठ धोती और टैरीलीन की कमीज डाले बस के नीचे गाड़ी-कण्डक्टर और ड्राइवर से बातें कर रहे थे। उनके गले में जंजीर, अँगुलियों में तीन-चार अँगूठियाँ थी, शरीर मे करीब-करीब हर जगह कोढ के धब्बे उछले हुए थे, जैसे कभी तेजाब इधर-उधर सब जगह गिर गया हो।

"ऐसी-तैसी उस साले की! चलो, मैं तुम्हें बताता हूँ।"

सारी सवारियाँ आ गयीं, तो वे बस में चढ गये और दरवाजा बन्द कर एक किनारे खडे हो गये। कण्डक्टर उन्हे सीट देने के लिए सकपकाया जा रहा था। उन्होने ही मना कर दिया। वे खड़े-खड़े चलेंगे। ड्राइवर और कण्डक्टर के चेहरों पर रौनक आ गयी थी।

"कहा चल रहे हो भैया?" एक सवारी ने कण्डक्टर से पूछा।

"हमने कहा था कि यही बस तुम्हे दिल्ली पहुँचायेगी! वही चल रहे हैं!" कण्डक्टर ने कहा। दिल्ली चलने की बात पर एक जोरदार 'गंगा मैया की जय' हुई।

"लेकिन ए. आर. टी. ओ. ने तो सख्त हिदायत दे दी है कि बस यह स्टाप नही छोडेगी। उसने कागजी कार्यवाही भी कुछ कर ली है। गाड़ी का नम्बर वगैरह भी उसके पास है, आप कैसे ऐसा कर सकते हैं?" वही पढा-लिखा आदमी था।

"अरे, ये तो जानवरों से भी गये-गुजरे हैं। अरे, घर का कुत्ता क्या करेगा? खाना भी न मिले तो सेवा करने से बाज न आयेगा?" सेठजी ने कहा। फिर वे ड्राइवर की तरफ मुखातिब हो गये।

"तो बेटा समझ गये न! आगे सिनेमा से बायी तरफ मुड जाना और सहारनपुरवाली सड़क दाब लेना, सीधे जाकर मेन रोड से मिल जायेगी।"

"कहीं वह वहाँ ही न पहुँच जाये?"

"ऐसी-तैसी उसकी ! तू फिकर न कर, उसकी दवा हो जायेगी। वह अभी यहीं आयेगा वापस। उसे यहीं धर लूँगा। आगे रिक्शा जा रहा है मेरे लिए, यहीं पर रोक दो।"

ड्राइवर ने गाड़ी रोक दी। आगे खाली रिक्शे के पास सेठजी उतरकर रिक्शे में बैठ गये और शहर की ओर वापस मुड़ गये।

"बोल गंगा मैया की जय!" इस बार आवाज ज्यादा तेजी से निकली और बस स्पीड से नये रास्ते पर चल पड़ी। ड्राइवर अब और तेज चला रहा था। कण्डक्टर खुश-खुश बोनट पर जाकर बैठ गया। उसने ड्राइवर को एक सिगरेट दी और एक खुद सुलगा ली थी।

"सालों को शर्म भी नहीं आती ! बाजार में भाई मालिक की कार लिये घूम रहा है और यह चालान काटता है ! अभी रेस्तराँ पर खड़ी थी कार।"

"अच्छा ? आठ-दो-तीन ही ?"

"हाँ, और यह तो रोज का किस्सा है और ए. आर. टी. ओ. को मालूम भी है।"

"मैंने सेठजी से कहा था कि उसने मुझे बहुत गालियाँ दी हैं। सेठजी बोले, इन बेचारों को गालियाँ देने दो, कुछ तो उनके पास रह जाये करने को।" ड्राइवर ने कहा।

वे दोनों हँसे।

"मैंने तो अपनी कार में उसके भाई को पहले ही देख लिया था··· स्पीड की तरफ ध्यान रखो···।"

"तू फिकर न कर, एक बार मोतीनगर के सेठ रतनलाल ने कहा कि उन्हें ऐसा ड्राइवर चाहिए, जो रेल से आगे भगाये। वे बोले—मेरे यहाँ आ जाओ, तिगुनी तनख्वाह दूँगा। मैंने कहा, सेठजी, पत्थर वहीं वजनी होता है, जहाँ पड़ा होता है। हम यहीं ठीक हैं। आज सेठजी ने मेरी नाक रख ली।"

बस तेजी से भागी जा रही थी। सवारियाँ ऊँघ-ऊँघकर एक-दूसरे पर गिर रही थीं। उनमें कहीं गुड़ी-मुड़ी पड़े वे तीनों भी थे।

गोवरगनेस

रात के कोई दस बजे होंगे कि पार्टी के अध्यक्ष का फोन आया।

खाना खाने के बाद लॉन पर बैठा मैं सिगार पी रहा था। ये कुछ बेकारी के दिन थे, इस माने मे कि मैं अब पार्टी का सक्रिय कार्यकर्ता नहीं रहा था। कोई दो हफ्ते पहले मेरा टर्म खत्म हो चुका था और मैं एक तरह से रिटायर्ड जिन्दगी के लिए तैयारियाँ कर रहा था। इसके पहले कि आगे की ज़िन्दगी के बारे में कुछ सोचता, मैंने आराम करने का सोच डाला था···क्योंकि पिछले कुछ वर्ष काफी भाग-दौड़ में गुजरे थे, पार्टी के कामों के अलावा कुछ सरकारी और गैर-सरकारी कमेटियों का काम भी मुझे मिला हुआ था जिसके लिए आये दिन इधर-उधर आना लगा रहता था। वह सारा तामझाम एकाएक खत्म हो गया और जिन्दगी में खाली-पन उतर आया था। मैं उसे भले ही आराम कहकर पुकारता पर वह एक भागती हुई ज़िन्दगी का एकाएक गायब हो जाना था जो मुझे कुछ ही दिनो मे खटकने लगा था। मैं किसी दूसरी ही रफ्तार पर जीने का आदी हो चुका था। कभी-कभार बैठे-बैठे तबियत खलबला उठती कि इतने सालो वे मुझे सिर्फ बेकार के कामो मे उलझाये रहे···कभी उपमन्त्री बनने का भी मौका नहीं मिला। मेरा ख्याल था कि मेरा कॅरियर धीरे-धीरे उस दिशा मे जा रहा है···पर उन्होने एकाएक ही मुझे दूध की मक्खी की तरह बाहर निकाल फेंका···नये टर्म के लिए मेरी एकदम उपेक्षा कर दी गयी।

पार्टी के अध्यक्ष ने बताया कि मुझे एक प्रान्त-विशेष मे चुनाव के लिए पार्टी का ऑब्ज़र्वर बनाया गया है। इस हैसियत से मुझे फौरन ही

उस प्रान्त में जाना होगा और कुछ लम्बे अर्से तक वहाँ रहना होगा—तब तक, जब तक कि चुनाव खत्म नही हो जाते। वैसे मैं चाहूँ तो तीन-चार दिन बाद एकाध चक्कर इधर लगा सकता हूँ···परिवार को देखने वगैरह के लिए···लेकिन देख-दाखकर फौरन चले जाना होगा···मुझसे यह कहा गया कि जल्दी ही मैं कोषाध्यक्ष से मिलूँ। मुझसे मेरी रजामन्दी नही पूछी गयी। वे जानते थे कि मुझ पर अहसान कर रहे हैं क्योंकि उन्हे यह भी मालूम था कि ऐसा मौका कोई आदमी नही छोड़ता। मेरे मुँह से भी शायद आदतन एक भी शब्द प्रस्ताव के विरुद्ध या हिचकिचाहट में ही नही निकला। पेशा जिन्दगी को किस तरह से रँगकर रख देता है! वे रास्ते में बैठे भिखारी की टोकरी में कुछ छोटे सिक्के डालकर आगे बढ़ गये थे, और मैं उनकी तरफ कृतज्ञता से कम उन सिक्कों को परखने में लग गया था। लालच, बेशरमाई, अवसरवादिता और भी न जाने क्या-क्या का मिक्सचर हो जाता है राजनीति में भाग लेनेवाला···क्या पता यह काम फिर से एक शुरुआत हो जो मुझे कहीं ऊपर फेंक दे··· राजनीति में वैसे भी हर मौके को पकड़ना होता है। शायद वे देखना चाहते हों कि मैं विशुद्ध पार्टी के कामों में कितना खरा उतरता हूँ। हो सकता है इस काम को उम्दा तरीके से निपटाने के बाद मैं किसी बेहतर काम के लिए चुन लिया जाऊँ···।

कोषाध्यक्ष से दूसरे दिन ही मैं दफ्तर मे मिला। बुजुर्ग आदमी है। हर महत्त्वपूर्ण मसले पर उनकी खासी दखल रहती है। पार्टी मे उनके स्टेटस को और भी मजबूत करने के लिए उन्हे एक सरकारी ओहदा भी दे दिया गया है और यह बिल्कुल उम्मीद नही की जाती कि वे पार्टी के काम छोड़कर सरकारी कामों में लगेंगे।

वे कई लोगों से घिरे हुए बैठे थे और चुनाव के लिए बनाये गये कुछ पोस्टरों को देख रहे थे। सभी ने कामकाजी मुद्रा ओढ रखी थी। मुझे देखते ही उन्होंने दूर सोफे पर बैठने का इशारा किया। उन्हें पता था कि मैं किसलिए आया था। बाकी लोगों को विदा करने के बाद उन्होने इशारे से मुझे मेज पर बुलाया। जो अब बाहर निकल रहे थे उनसे मेरी राम-राम हुई। दरवाजा बन्द और कमरे के बाहर व्यस्त होने की सूचिका

के रूप मे बत्ती जल गयी थी···जैसा कि अफसरों के कमरों में होता है।

"मुझे···।"

"जी हां, मुझे मालूम है। आपके लिए हमने नब्बे लाख रुपया रखा है। इसे आप चाहें तो एक बार ही और चाहे तो कुछ-कुछ समय के अन्तराल पर ले जा सकते हैं!"

"मगर मैं इतने रुपये रखूंगा कहां, इसकी हिफाजत कैसे होगी, ले कैसे जाऊंगा।"

मैं सनाका खा गया था। जानता तो था कि चुनाव मे पैसे चलते हैं, लेकिन राज्यसभा में नामजद होने की वजह से सीधा अनुभव कभी नही था···मुझे खतरा सीधा और ठीक सामने नज़र आ रहा था। चुनाव के दिनों वैसे ही सबकुछ जायज़ मान लिया जाता है—लूट-खसोट, चोरी-कत्ल, कुछ भी। बाहर जो आबोहवा थी, उससे हम सभी परिचित थे। हवा अपने खिलाफ थी। चुनाव के क्षेत्र में जाना ही काफी खतरनाक काम था, फिर इतनी रकम के साथ···?

"तुम्हारा कब जाने का प्रोग्राम है···?"

"वह तो बाद की बात है लेकिन मैं इतने पैसों को अपने साथ ले कैसे जाऊंगा ?"

"कैसे ले जाया जाता है ?"

"मतलब यह कि हवाईजहाज से जाने में देखा-सुनी हो सकती है। कभी किसी ने देख लिया तो सरकारी बन्दे मुझे पकड़ेंगे। मैं इस पैसे को कैसे 'एक्सप्लेन' करूंगा···अच्छा होगा अगर आप मुझे बैंकड्राफ्ट दिलवाने का बन्दोबस्त करवा दें।"

"क्या नौ-सिखिए जैसी बात करते हो ? बैंकड्राफ्ट कभी बनते हैं ? अगर तुम्हें इतनी ही अड़चनें थी तो तुम्हे अध्यक्ष को ही मना कर देना था। पैसा ले जाने की क्या बात है···हम सब लोग कैसे ले जाते हैं ? अरे, अटैची मे कपड़ो के बीच रख लो और बेफिक्र होकर अटैची को सामान में चले जाने दो, अपने पास भी न रहने दो। सब उसी तरह ले जाते हैं। अभी चाहो तो आधा ही पैसा ले जाओ, आधा दूसरी ट्रिप मे ले जाना।"

मेरा दिल धुकधुका रहा था। एक बार मन भी हुआ कि इस झंझट से छुट्टी पाऊं पर फिर लालच बाजी मार ले गया। कोषाध्यक्ष के हौसले ने मुझमें भी दम भरा। न होगा तो मैं मामूली यात्री की तरह रेल से ही चला जाऊँगा।

"अच्छा, तो मुझे वहाँ पर पैसा बैंक में रखने की इजाज़त दी जाये···क्योंकि वह मेरे लिए इतनी परिचित जगह नही है। दूसरे, आजकल का उपद्रवी माहौल आप जानते है। रकम और जान दोनों को खतरा हो सकता है।"

"तुम पहले आदमी हो जो इस तरह के खौफ से पीड़ित हो और शर्त पर शर्त रख रहे हो···ऐसा करो, पहले अध्यक्ष से मिल लो···इसके बाद मेरे पास आना।"

मैं वहाँ से उठकर सीधा अध्यक्ष के यहाँ चला आया। अध्यक्ष काफी तपेतपाये लोगों मे से है। मुख्य नेता के काफी पास के आदमी है। इसलिए सब जगह उनकी धाक है। हर तरह के दौर उन्होने झेले है। उनका अनुभवी होना उनके व्यक्तित्व से ही टपकता है। गोल-गोल हाथ, दोनों हाथों की उँगलियों मे कई तरह की अँगूठियाँ, हाथो को घुमा-घुमाकर गोल-गोल करते हुए बातें करना, हमेशा एक मुस्कान चेहरे पर लिये रहना, बोलना कम, भौहों के इशारे ज्यादा करना···ये वे सब खूबियाँ हैं जिनको उन्होने बढती उम्र के साथ अर्जित किया है। अपने इन्हीं गुणों की वजह से पार्टी की मुख्य धारा में वे शुरू से अभी तक बने हुए है। हर समस्या का चुटकियो मे समाधान खोज निकालने के लिए मशहूर है। समस्या से निपटकर वे दिमाग से भी उसे वैसे ही झाड़ फेंकते हैं जैसे सुट्टा लगाने के बाद सिगरेट की राख को चुटकी से झाड़ते हैं।

उन्हे मेरी नादानी पर हंसी आयी। मेरी जिद कि मैं पैसे को वहाँ बैंक में ही रखूं, इस पर भी वे थोड़ा-सा मुस्कुराये।

"ठीक है, अगर तुम बैंक मे ही रखना चाहते हो तो रख सकते हो। लेकिन एक काम करना, एक-एक रुपये की उतनी ही रसीदें छपवा कर रख लेना जितना पैसा बैंक मे रखो। रसीद के दाहिनी तरफ का हिस्सा फाड़कर फेंक सकते हो, बायी तरफ का अपने पास रखे रहना।"

उन्होंने मुझे खुश-खुश विदा कर दिया, कुछ और मसलों पर बात-चीत करके, कुछ कोका-कोला और सिगरेट पिलाकर। बाद में मुझे सूझा कि अगर रसीदों को बनाने-फाड़ने में लग गया तो फिर चुनाव के लिए क्या कर पाऊँगा।

पर आखिरकार सारा मामला तय हो गया। अध्यक्ष ने मेरी उतनी मदद नहीं की थी जितने मुझे इशारे से रास्ते दिखाये, बाकी सब तैयारी मेरे अपने दिमाग ने की। मैं मानसिक रूप से उस काम के लिए तैयार हो गया था। यों देखा जाये तो वह एक बहुत बड़ा मौका था जब कुछ ही दिनों के लिए सही, मैं इतनी बड़ी रकम की शक्ति को भोग सकता था और उस ताकत को लोगों को जता भी सकता था। इस ताकत को अपनी राजनैतिक हैसियत की शक्ल में भी उस प्रान्त में रख सकता था...जो आगे चलकर कभी इस प्रान्त में किसी भी हैसियत से आने पर काम में आयेगी। उस मौके को सिर्फ अपनी कुछ कमजोरियों की वजह से गँवाना मूर्खता होती। मैंने अपना लिखित कार्यक्रम बना डाला। कोषाध्यक्ष को दिखाया भी, पर उन्हें उसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। उन्होंने जाने के एक दिन पहले श्रीमती 'प' से मिलने को कहा।

श्रीमती 'प' से उनके घर पर ग्यारह बजे रात के बाद ही मिला जा सकता था। उनका घर एक पौश-कॉलोनी में था...अच्छा-खासा, लम्बा-चौड़ा। बाहर कुछ खद्दरधारी टहल रहे थे, हाथ जेब में जब तब डालते हुए...हो सकता है कि उनकी जेबों में पिस्तौल-जैसी सख्त चीज भी रही हो। बरामदे से दाहिनी तरफ जो आफिस था वहाँ एक टाइप-राइटर पर पी० ए० जैसा कोई आदमी बैठा हुआ था। उसके पीछे की अलमारी अधखुली थी, जिसमें ऊपर के खानों में स्टेशनरी और कागज और नीचे के एक खाने में दो बन्दूकें भी रखी हुई थीं। पी० ए० ने नीचे फोन से चेक किया, बाद में मुझे नीचे जाने का रास्ता समझा दिया। बेसमेंट में हॉल था, चारों तरफ से सुरक्षित और ड्राइंग-रूम की तरह सजा हुआ, एक कोने की तरफ दीवार से सटी हुई पाँच-छः लोहे की अलमारियाँ थीं। उस कमरे में कुछ जरूरत से ज्यादा भीड़ मुझे दिखायी दी। रात के उस वक्त मैंने कल्पना की थी कि मैं श्रीमती 'प' से अकेले

में मिल सकूंगा, लेकिन वह तो एक छोटा-मोटा बैंक बना हुआ था। श्रीमती 'प' अलमारी से गड्डी निकालती, एक सादा कापी मे लिखती और फिर एक व्यक्ति को दे देती। उनके पास रकमों की सूची पहले से मौजूद थी। कुछ मिनट मुझे अपनी बारी का इन्तज़ार करना पड़ा, जब आयी तब मैंने कहा—

"मैं फिलहाल सिर्फ आधी रकम ले जाना चाहता हूँ।" श्रीमती 'प' ने कुछ हैरत से मेरी तरफ देखा।

"मेरी वजह से आपको एक बार फिर तकलीफ उठानी पड़ेगी…" मैंने फिर कहा…।

"नही, मैं सोच रही थी कि लोग तो जितनी रकम है उससे भी आगे के लिए लड़ाई-झगड़ा करते हैं, यह जानते हुए भी कि मेरा बजट तय करने में कोई हाथ नही है, और आप है कि कम के लिए कह रहे है, क्या कम-खर्ची का इरादा है?"

'नही, वह बात नही, मैं सिर्फ हिफाज़त की दृष्टि से बात कर रहा था।"

उन्होंने आगे बात नही की, चुपचाप एक गड्डी मेरे हाथो मे लाकर थमा दी।

"मुझे गिनने में थोडा वक्त लगेगा।" मैंने कहा।

"पागल है! यहाँ किसी को गिनते देखा है? अगर हर कोई ऐसे गिनने लगे तो हो चुका।"

"लेकिन हिसाब तो मुझे देना होगा।"

"इसकी कोई जरूरत नहीं है, कोई आपसे यहाँ के कम-बढ का हिसाब नही मांगेगा, आप सिर्फ खर्च का हिसाब रखते रहें। यह पैसा न गिनकर लिया जाता है और न गिनकर दिया जाता है…" और वे दूसरे की तरफ मुखातिब हो गयी।

मैंने गड्डी को शेरवानी के अन्दर की जेब में डाला और नमस्कार करके बाहर आ गया। रात के सन्नाटे में मुझे अकेले ड्राइव करना था। मैं गार्ड मांगता तो और भी हंसाई होती, दूसरे वे सब इस चीज़ को इतना जाहिर होते हुए भी नही देखना चाहते थे। सबकुछ एक साधारण पोशाक

के अन्दर-अन्दर ही *होना था।* *फिर भी मैंने यह निश्चय कर लिया कि* कम-से-कम एयरपोर्ट जाते वक्त जरूर एक-दो लोगों को ले जाऊँगा। इस पैसे की कोई कीमत हो या न हो, मेरी जान की जरूर कोई कीमत थी!

उस वक्त तो मैं उतने ही इत्मीनान से वापस चला जा रहा था जैसे किसी कौकटेल से गपशप मारकर लौट रहा हूँ।

हवाईजहाज से अपने नये स्टेशन तक पहुँचने में मुझे कोई खास दिक्कत नहीं हुई।

मुझे *लगा जैसे मैं पुराना अनुभवी था*···*वैसे हर कदम पर यह* विश्वास जरूर था कि मैं उनके काम पर था जो देश के सबसे ताकतवर लोग थे। उनके प्रभुत्व की वजह से मेरा प्रभुत्व भी आगे-आगे बोलता चलता था। रुपयों को कपड़ों की तहों के बीच में इधर-उधर रख देना, लापरवाही से अपनी अटैची को सामान के साथ जाने देना मुझे वैसे ही आ गया था जैसे चैकिंग होते वक्त अपने स्टेटस पर खास जोर देना, पार्टी का नाम किसी तरह चलते-चलते सुना देना···जिसकी वजह से लोग बेवजह तहकीकातें या शक मुझ पर नहीं करते। नयी जगह के एयरपोर्ट से मैं सीधा पार्टी के दफ्तर गया, जहाँ मेरे लिए एक कमरा सुरक्षित था। उसे अन्दर से बन्द करके पहला काम मैंने अटैची टटोलने का किया—कहीं कोई गड़बड़ी नहीं हुई थी। चूँकि मैं दफ्तर के इसी *रिटायरिंग रूम में ठहरनेवाला था, इसलिए मैंने स्थानीय नेता से भीड़-* भाड़ से बचने के बहाने कुछ आदमियों की माँग की। फौरन ही कुछ पाँच-छः लठैतों की ड्यूटी लग गयी। मुझे उस पर भी पूरा भरोसा नहीं हुआ, *इसलिए मैंने अपने-आप ही एक तरीका खोज निकाला।* *बैंक में* लॉकर खुलवाकर वहाँ पैसे डाल आया। जितनी रकम की फौरन जरूरत थी वह अपने पास रख ली। इसके फौरन बाद ही मैं कागज-पेन्सिल लेकर बजट बनाने बैठ गया। हर उम्मीदवार के लिए अपने हिसाब से मैंने एक रकम तय की और मेरा इरादा था कि जल्दी ही इसकी बाँट-चूँट करके छुट्टी पायी जाये। एक वरिष्ठ नेता जो शाम को मुझसे मिलने आये उन्हें मैंने अपनी योजना बतायी कि मैं पैसे को जल्दी ही बाँट देना

क्षेत्रों में काम आसानी से चलता गया। सिर्फ एक क्षेत्र में मुझे काफी परेशानी हुई। मेरी पार्टी के कुछ लोग जिनमें कुछ मेरे मित्र भी थे उन्होंने मुझ पर दवाब डाला कि मैं विपक्षी दल से खड़ी हो रही एक महिला को जितवाने में मदद करूँ। इसके लिए यह जरूरी था कि मैं अपनी पार्टी के नाम पर खर्च तो दिखाऊँ लेकिन खर्च करूँ विपक्षीय महिला के लिए। उसका व्यक्तित्व काफी प्रभावशाली और रंगीन था। मेरी भी उनसे एक हद तक घनिष्ठता थी, लेकिन चूंकि पार्टी का मामला था, इसलिए मुझे यह साफ-साफ गद्दारी दिखायी दी। मैंने सबसे अपने-आपको अलग रखा और अपने दल के सदस्य की ही मदद की। हाई-कमाण्ड को मैंने एक रिपोर्ट भी भेज दी, अपना रवैया साफ करते हुए और पार्टी के गद्दारों का पर्दाफाश करते हुए।

चुनाव-परिणाम हमारी पार्टी के पक्ष में रहा। हमने विपक्षीय दल को हर जगह तगड़ी शिकस्त दी थी। इसमें जरूर पैसे का काफी हाथ था···लेकिन मेरा यह इन्तजाम था कि मैंने हर उम्मीदवार को पैसे का बड़ा हिस्सा चुनाव-क्षेत्र में खर्च करने को मजबूर कर दिया था···और वोटर वोट डालने के ठीक पहले परम प्रसन्न थे। परिणामों के बाद मैं एक विजेता की हैसियत से पार्टी के तबकों में घूमता रहा। मेरे सह-कर्मियों ने मेरी कार्य-कुशलता, मेहनत और व्यवस्था की क्षमता की तारीफें भी कीं। मुझे पक्का विश्वास था कि हाई-कमाण्ड में भी मेरा दबदबा कायम हो चुका होगा और इस समय वे मेरे लिए कोई बड़ी जिम्मेदारी की बात सोचने में व्यस्त होंगे···क्या पता किसी महत्त्वपूर्ण जगह का गवर्नर ही बना दिया जाऊँ···हो सकता है इसी प्रान्त का क्योंकि यहाँ के चप्पे-चप्पे से और हर तरह की राजनीति से मैं वाकिफ हो चुका था···आखिर जब से आया था यहीं डटा रहा था, मुस्तैदी से···सिर्फ एक बार ही बाकी रुपये उठाने के लिए गया था···।

इसलिए इस बार पहुँचते ही सीधा पार्टी-अध्यक्ष के यहाँ गया।

सफेद धोती-कुर्ता में मन्द मुस्कान से सिंचा हुआ चेहरा लिये वे अपने पीले सोफे पर विराजमान थे, मुट्ठी में हमेशा की तरह सिगरेट कसे हुए जिसे वे चुटकियों में झाड़ते थे···।

मैं थोड़ा खिचा हुआ था क्योंकि इतना काम करने के बाद मेरा ख्याल था कि मैं धड़धड़ाता उनके पास पहुँचूँगा, पर मुझे मिलनेवालो की कतार में बिठा दिया गया था। अपना नम्बर आने पर ही पहुँच पाया···जब पहुँचा तो उत्साह काफी-कुछ बुझ चुका था।

उन्होने उठकर मुझे गले से नहीं लगाया जैसा कि जीत के उस मौके पर सहयोगियों से किया जाता है···सिर्फ भवों से मुस्कुराये और फिर तुरन्त बाद ही उनकी भवें उचक-उचककर पूछने लगी—"बोलो, क्या चाहते हो···"

"हवा देखते हुए तो डरता था···पर सब-कुछ उम्दा हुआ··· मेहनत सफल हुई, मैंने पूरा हिसाब भी दे दिया है···" मैंने स्वयं को शाबासी दी।

वे सिर्फ मुस्कुराते हुए मेरी तरफ देखते रहे जैसे उनकी मुस्कुराहट पर मुझे कृतज्ञ होना चाहिए था। अगले कुछ क्षण हममे से कोई कुछ नही बोला। उनके चेहरे पर प्रश्नवाचक चिह्न लगातार था। आखिर जो वे चाहते थे, मैंने वही किया—अपनी बात साफ-साफ रखी—"लोकसभा के चुनाव आनेवाले है, मुझे भी टिकट दिया जाये···अगर पार्टी ने मेरे लिए कोई और चीज़ सोच रखी है तो दूसरी बात···मैं अपना राजनैतिक कैरियर खत्म नही करना चाहता।"

अध्यक्ष अपनी उंगलियो के छोरों को मिला-मिलाकर कुछ बजाने-सा लगे···फिर हाथों को गोलाकार मुद्रा मे लाकर धीरे-धीरे बोले—

"भाई···अभी तो बहुत जल्दी है···पार्टी मे अपनी इमेज तो बनाइए···।"

"मैं तो खासा पुराना हूँ···।"

"वह तो ठीक है, पर राजनीति में अड़ियल होना तो एकदम नही चलता···हवा के माफिक मुलायम और हर क्षण बदलनेवाला बनना पड़ता है···।"

"मैं समझा नही···।"

"अब यही तो···समझ भी पैनी करनी होती है···मतलब बहुत उसूलबाजी नही····हिसाबी-किताबी नही चलती यहाँ···कभी-कभी दिखला

कुछ और है···असल कुछ और होता है···उदाहरण के लिए उस चुनाव-क्षेत्र मे हमारी पार्टी को हारना चाहिए था···"

उनका इशारा उस महिला की तरफ था जिसके लिए चुनाव के दर्म्यान भी बहुत दवाव पड़े थे।

"चुनाव के बाद ही वे शायद हमारी तरफ आ जाती···बहुत उपयोगी थी···।"

"तो पहले क्यो नही पार्टी मे शामिल हो गयी···?" मैंने पूछा।

"अब राजनीति में हर चीज का वक्त होता है···ये सब अन्दर की करेंट्स है···उनकी समझ चाहिए···लोकसभा के लिए तो खास तौर से बडे ही (वे शब्द ढूंढ नहीं पाये···सिर्फ दाहिने हाथ को गोल-गोल हवा मे घुमाते रहे)···बड़े ही···लोग चाहिए···पर चलिए देखेंगे···" और वे फक-से हँस दिये।

बात खत्म थी···यह वह हँसी थी जिसका मतलब राजनीति मे सब-कुछ धो देना होता है—मेरा काम और मैं दोनों ही धो दिये गये···एक क्षण में। मै जहाँ-का-तहाँ पहुँच गया···जब सिर्फ बेशरमाई से राज्यसभा के नये टर्म के लिए गिगयाते फिरने के अलावा और कुछ नही था सामने। इससे तो अच्छा था मैं अपने लिए कुछ रकम ही खीच लेता।

सिलसिला

सड़क बाँध के पुल से नीचे उस खूबसूरत फुलवारी में उतरती थी, बीच में कई दायें-बायें मोड़ लेते हुए।

खूबसूरती एक तरह से गड्ढे में खोदकर बिछायी गयी थी वहाँ··· उतना ही गहरा गड्ढा जितना दूसरी तरफ पानी को रोककर रखने के लिए था। बाँध की विशाल दीवार इस छोर से उस छोर तक फैली हुई थी, जिस पर वह खूबसूरती सर टिकाये पड़ी थी···असली बाँध के थोड़ा उस तरफ। नदी को जहाँ बाँधा गया था वहाँ तीन-चार मोटे-मोटे छेद छोड़े गये थे, जिनमें से धाराएँ अलग-अलग बँधे-बँधाये खानों में होकर नीचे गिरती थीं। नदी का वेग इस तरह बाहर-ही-बाहर निकाल दिया जाता था। बाँध के एक किनारे का पानी अन्दर फुलवारी की अलग-अलग डिजाइनोंवाली छोटी-मोटी इमारतों में पहुँच जाता था—कोई चौकोर मौसम देखनेवाले छज्जे-सी और कोई गोलाकार चौपाल-सी। उनमें से पानी फिर फूटकर निकलता था—नीचे बहने, छोटे-मोटे फव्वारों को पानी देने···और फिर गिरकर बहने के लिए।

यात्रा का वह आखिरी पड़ाव था। सुबह से जो एक के बाद एक जगहें देखते चले जाने का सिलसिला चला था···उसका अन्तिम चरण। वहाँ इस तरह पहुँचना हुआ था कि शाम हो चली थी। देखनेवाली जगहों में यह सबसे महत्त्वपूर्ण थी···इसलिए दर्शनीय जगहों की लिस्ट में आखिर पर रखी गयी थी। कहा गया था कि वह पृथ्वी का स्वर्ग था।

उतरते ही लोग पैण्ट-कमीज झाड़ते हुए फव्वारों के झोंकों में उड़ने लगे···पानी का धुँआ आँखों में तरावट भरता था। उनके बायें फुलवारी

का बड़ा हिस्सा और दायी तरफ लबालब भरी झील···झील के उस पार फुलवारी का दूसरा हिस्सा था। दोनों हिस्सों के फव्वारों का पानी आ-आकर बीच में पडी झील मे जमा होता था और फिर सामने के निकास से बह जाता था। झील भी उस पूरे चौखटे मे खूबसूरती से जड़ी हुई थी·· फुलवारी के उस हिस्से से इस हिस्से को लौटने के लिए बीच झील से एक छोटा-सा पुल, आर-पार जाती हुई फेरियाँ और नावें···झील के बीचों-बीच पानी का धुँआ छोडता हुआ बड़ा फव्वारा···सब-कुछ सजा-सँवरा, ठण्डा-ठण्डा।

सामने बाँध की लम्बी खिची हुई दीवार थी। जहाँ वे थे, वहाँ से उसकी विशालता भयावह लगती थी। बाँध पुख्ता था, फिर भी सीलन चारो तरफ थी और जहाँ-तहाँ जोडों से पानी बरसाती सोतों की तरह रिसता भी था।

उस भीमकाय दीवार की जड़ से होते हुए झील के उस किनारे से एक पतली सडक रेलिंग का सहारा लिये फुलवारी के इस हिस्से से दूसरे हिस्से की तरफ जाने के लिए थी। उन्हे बस में ही बता दिया गया था कि वे पहले दूसरे हिस्से को देख आयें, फिर झील के छोटे-से पुल पर से होते हुए इस तरफ की फुलवारी देखने को लौटें।

पतली सड़क पर आदमियों की कतारें रेंगती हुई चीटियों-सी चली जा रही थी···रेलिंग पर जहाँ-कहीं चिपके लोग मच्छरों-से दिखते थे। जहाँ वह सड़क खत्म होती थी वहाँ उस लम्बी-फैली कतार में एक फोड़े जैसा जोड़ बन रहा था। चलते-चलते लोग यहाँ रुक रहे थे, रेंगने मे जैसे एक अटकाव पैदा हो रहा था और उस बिन्दु पर आकर कतारों का क्रम साफ टूटता था। चुस्त और क्रमबद्ध कतार की जगह वहाँ एक ढीली-ढीली भीड थी, लोग ठसमसाहट मे रेलिंग पर चिपकने की कोशिश कर रहे थे।

वहाँ नीचे झील के किनारे पर कुछ था। ठीक किनारे पर पानी मे औंधा पडा हुआ एक साबुत शरीर···आदमी-जैसा सिर, हाथ-पैर···सभी कुछ काफी मोटे थे और उतनी दूर से देखने पर वह एक मजबूत काठी का आदमी लगता था। पानी में उस तरह औंधा पड़ा हुआ वह शरीर

लहरों की हिचकोलों में एक लय के साथ ऊपर-नीचे हो रहा था, गोया कि वह निस्पन्द नहीं, किसी क्रिया के चरम क्षणो मे था।

पास ही एक बंधी नाव थी, कुछ-कुछ उसी लय मे डोलती हुई··· फर्क था तो इतना ही कि नाव बायें-दायें होती थी और वह शरीर ऊपर-नीचे। ऊपर से उन दो का फासला मामूली दिखता था।

ऐसा हो सकता था कि किसी नाव पर एक पुतला नाविक बनाकर बैठाया गया हो और किसी तूफान या अन्धड मे वह नाव से उखडकर नीचे गिर पड़ा हो। जिस तादाद मे पैमाना-परकार से खूबसूरती वहाँ रोपी गयी थी, प्राकृतिक सौन्दर्य की जो खीचातानी हुई थी···उसमे यह एकदम स्वाभाविक था।

तभी कही से एक कुत्ता वहाँ पहुँच गया। पहले थोडी देर ऊपर से ही देखता रहा, फिर नीचे उतरकर ठीक पानी पर जा पहुँचा और शरीर की टाँग से चीथकर कुछ निकालने लगा। एक दबी हुई सनसनाहट ऊपर रेलिंग पर खड़े लोगो के जत्थे मे फैल गयी···तो वह कोई आदमी ही था। वे उसे पहचान नही सके थे···और एक कुत्ते से उन्हे यह पहचान मिलनी थी! अब तक कुत्ते के मुँह मे मांस की छुटपुट चीथें भी आ चुकी थी। कुत्ता पूरा चभका टाँग में खपाता, उसकी थूथन अजीब जद्दोजहद मे इधर-उधर होती। जब-तब वह खीचकर कुछ अपनी तरफ निकालने की कोशिश करता···जैसे वह आदमी की नस नही कोई पुख्ता जड़ी हुई कील थी। कितना विकट होता है साबुत शरीर से कुछ खीच निकालना, भले ही शरीर में प्राण न बचे हों।

कुत्ते की हरकत देखकर उनमें अजीब वितृष्णा, एक किस्म की रिसती हुई हलचल उथल-पुथल करने लगी।

"कौन है यह···?"

"आदमी···।"

"कैसे हो गया···?"

"डूब गया होगा।"

"इतने से पानी मे···?"

"नदी मे बहकर आया होगा···।"

"वह कैसे हो सकता है, बहाव इधर कहाँ है ?"

"अजी यह तो साफ है, उसे मार दिया गया है···।"

"मारा भी गया है तो यही जगह मिली थी फेंकने को···?"

"मारनेवाले ने शायद सोचा हो कि पानी के नीचे चला जायेगा, पर पानी ने उसे ऊपर फेंक दिया।"

"कोई दर्शक होगा, रेलिंग पर से रपटकर गिरा और फिर डूब गया होगा।"

"और बाकी लोग देखते रह गये···?"

"क्या पता···?"

लोग घबराकर आगे बढ़ रहे थे। उन्हें अपने चेहरे पर कालिख पुती महसूस हो रही थी···एक दर्द जो उनके बाहर होते हुए भी बहुत अन्दर था। कोई शारीरिक चुभन न होते हुए भी जैसे कोई तेज घरघराहट थी···उस आदमी की जगह उनमें से कोई एक भी हो सकता था!

पीछे आ रहे लोग उस तरह वहाँ अब भी खड़े होते, कुछ-कुछ उत्साह में ही। वहाँ पहुँचने तक ऐसा लगता था जैसे देखनेवाली जगहों में वह पहली चीज़ थी जहाँ भीड़ थोड़ी देर को रुकती-देखती, आगे बढ रही थी···। लोग आते, नीचे देखते और चरपराहट लिये हुए आगे बढ जाते। रेलिंग के उस बिन्दु पर आदमियों के इकट्ठे होने से बना हुआ वह जोड़ उतना ही बेडौल और सूजा हुआ-सा रह जाता।

रेलिंगवाली सड़क से उतरते ही फुलवारी का दूसरा हिस्सा शुरू हो जाता था। आखिरी छोर पर गोल चौपाल-जैसी वह इमारत थी जिसमें से पानी निकलता हुआ बहता था। अगल-बगल हरे पार्क, सुर्ख फूल और सफाई से तराशे हुए पौधे थे। एक किनारे बेलों की एक कॉटेज खूबसूरत दुल्हन-सी खड़ी थी। नीचे बिछी हुई हरियाली की ठण्डक और ऊपर उड़ता हुआ फव्वारों का धुँआ था···जबड़ों में चिपकी उस छरछराहट को धोकर बहा देने का सारा सामान था वहाँ, और लोगों की आँखों में घुस बैठने के लिए ठण्डक-ही-ठण्डक का इन्तजाम था चारों तरफ। फिर भी नीचे झील के पुल पर से होकर वापस जाने के लिए लोग जब फुलवारी के उस हिस्से से नीचे उतरते, तब उनमें से कुछ अना--

पास ही दायीं तरफ फिर चले जाते…वह हिस्सा जो रेलिंगवाली पतली सड़क के ठीक सामने था और जहाँ एकदम नीचे पानी पर उतराता हुआ वह आदमी मरा पड़ा था।

उतने पास से वह दृश्य अजीब दहशत पैदा करता था। कोई भी वहाँ ज्यादा देर नहीं ठहर सकता था। जो ज्यादा-उम्र थे या कम-उम्र थे वे कुत्ते पर एकाध पत्थर चलाते। कुत्ता जीभ से अपने जबड़ों को इधर-उधर बड़े वाहियात ढंग से चाटता हुआ चोरी के अहसास से गर्दन झुकाये एक तरफ को खिसक लेता…लेकिन तभी दूसरा कुत्ता भी सूंघ-कर वहीं आस-पास पहुँचा हुआ दिखता था…।

जब तक लोग रेलिंग के सामनेवाले उस नुक्कड़ पर खड़े रहते, कुत्ते नहीं आते थे।

नीचे पसरी हुई बाँध की छाया तेजी से गहरा रही थी और दीवार से उतरता हुआ मटमैला अँधेरा उसे गोट-दर-गोट मढ़ता हुआ आगे बढ़ा आ रहा था। दीवार में जड़े हुए पत्थर चौकोर कालेपन में उछलकर ऊपर आ रहे थे। झील का पानी अब उतना खूबसूरत नहीं रहा था… उसमें उतराती एक बदबू थी, मिचमिचाहट पैदा कर देनेवाली बदबू…।

अजीब किस्म की कशिश थी कि लोग देखना भी नहीं चाहते थे और वहाँ से हटने में तकलीफ भी महसूस करते…।

"चलो भी यार, क्या देखना है…!" एक दूसरे को घसीटता।

"कुत्ते फिर आयेंगे।"

"इसे ऐसे छोड़ दिया गया है कि घूम-घूमकर लोग यहीं लौटकर आयें और देखें।"

"उन्हें क्या नहीं पता कि यहाँ यह पड़ा हुआ है और इसे हटा लेना चाहिए था…अब तक…?"

"कितने इधर से गुजर चुके होंगे…सबने देखा होगा…चलो छोड़ो …क्या रखा है अब…!"

"मगर कुत्ते…उनसे तो हिफाजत की जा सकती है…।"

"हिफाजत किसकी…क्या बचा है हिफाजत के लिए…और तुम कब तक यों खड़े रहकर हिफाजत कर सकते हो?"

"थोड़ी देर में कुत्ते उसके लिए लड़ेंगे भी···।"

"उधर पहुँचते ही हम इत्तला कर देंगे।"

"अच्छा।"

पत्थर अब तक दीवार में डूब गये थे और सामने अब लोहे के रंग की दीवार उग आयी थी, जमीन के उस हिस्से को बीच से काटती हुई। नीचे लाश पर दंतो हुई कुत्ते की धुंधली छाया थी। ज्यादातर आवाजें दब चुकी थीं···सिर्फ दो ही बची थीं···फव्वारों की छनछनाहट और उसके पीछे किनारे पर लहरों के टूटते थपेड़ों की आवाज···वह पानी में अब भी हिचकोले खा रहा होगा···ऊपर-नीचे, नीचे-ऊपर।

तभी चारों तरफ से रंगों की एक चौंध जैसे नीचे से फूट पड़ी। फुलवारी के दोनों हिस्सों की इमारतें, झाड़ियाँ, फूलों की क्यारियाँ और फव्वारे···सभी ने कोई-न-कोई रंग ओढ़ लिया था।

रंगों के उछलते ही एक अलग तरह की रौनक भरी हलचल आर-पार दौड़ने लगी। झील के छोटे पुल पर से लौटनेवालों की भीड़ बड़ी हो गयी थी। सब फौरन ही दूसरी तरफ जाना चाहते थे जैसे रोशनी का उछलना कोई घण्टी थी, उस पार कुछ बँट रहा था और वह लूटने उन्हें दौड़कर जाना ही था।

इस तरफवाली फुलवारी रंगों से पुती हुई थी। शुरू ही में जो सबसे ऊँची इमारत थी वहाँ मोरपंखी रंग उभरते-डूबते और फिर उभरते थे। उस इमारत से हरे रंग के पानी की एक बड़ी धार फूटती, मोटाई में नीचे गिरती, एक पौण्ड में थमती और वहाँ से कई दूसरे रंग ओढ़कर आगे चलती। इसी तरह आगे झील तक रंगों का वह सिलसिला बदलता हुआ पहुँचता था। बाँध की दीवार पर ऊपर-ऊपर ही रंगों की एक झालर बन्दनवार की तरह लटकी थी। इधर की फुलवारी के दायें-बायें हाथी-सी सुनहरे रंगों में चमकती दो इमारतें थीं। पानी की रंगीन धारें वहाँ से फूटकर बीच धारा की तरफ बहती आती थीं। दोनों तरफ झाड़ियों में नीले रंग के मोटे-मोटे बिन्दु लहरियों में साँपों की तरह दौड़ते थे। दुनिया के सारे रंग जैसे वहाँ झोंक दिये गये थे। फव्वारों के उड़ते रंग-बिरंगे धुँओं से कभी-कभी लगता जैसे वहाँ गुलाल उड़ रही थी···लाल,

हरी, पीली, नीली ।

भीड़ सब तरफ से खिसककर रंगो के इर्द-गिर्द इधर की फुलवारी मे सिमट ग्रायी थी । दिन में जो एक साधारण-सा पार्क था, वहाँ ग्रब रंग-बिरंगा मेला छितरा हुग्रा था । वही शोर-शराबा, हलचल ग्रौर लापरवाही की हद तक खुशी, बजिद्द खुशी । ग्रावाजें, ठहाके, खिल-खिलाहट, बसो ग्रौर मोटर-गाड़ियों की चीखें । रगो ने जैसे सबको बिखेर-कर रख दिया था । लोग रोशनी में डूबने-उतराने लगे थे···जैसे खोये भर-भर रंगों को मुंह मे छिड़कते ग्रौर उसकी तरावट मे झूमते-घूमते फिर रहे हों ।

लोग नीचे से ऊपर जाते···ऊपर से रंगीन फव्वारो के किनारे-किनारे सीढियाँ उतरते नीचे ग्राते थे···बीच-बीच मे दायें-बायें भी हो ग्राते थे। जहाँ भी कही रंग दिखायी दिये, वहाँ हो ग्राना चाहते थे ।

फुलवारी के दूसरे हिस्से में भी रंग थे लेकिन इधर की चौंध के नीचे से देखने पर वह हिस्सा दबा हुग्रा, मायूस लगता था । उन रंगों में कुछ घुटा-घुटा-सा था·· सारी भीड़ इधर चली ग्रायी थी ग्रौर वह इलाका, रंगो ग्रौर फव्वारो के बावजूद वीरान पड़ गया था । वहाँ ठीक ऊपर ग्रासमान में एक काला बादल का बेतरतीब टुकड़ा बड़े ही मरियल ढंग से चिपका हुग्रा था ।

इस सबसे बहुत ऊपरएक 'फाइव स्टार' होटल ग्रपनी सुनहरी भव्यता मे मुस्कुराता खड़ा था । नीचे बिछी रंगो की इस कटोरी मे उतराती भीड़ थी । होटल के बरामदे पर खड़े दो-चार लोग नीचे के उस रंगीन तमाशे को देख रहे थे···जहाँ रंगो की ग्रार-पार उड़ती फुहारो ग्रौर हवा के नम झोको से फेफड़े भरते हुए लोग इधर से उधर हो रहे थे । कोई नही रुकता था । किसी को शायद ग्रब यह खयाल भी नही रह गया था कि वहाँ, उसी वक्त, कोई मरा हुग्रा पड़ा है···उन्हे भी नही, जो इधर ग्राकर इत्तला करनेवाले थे ।

पैंतालिस अंश का कोण…

वह यहाँ रोज आ जाता है, लगभग इसी समय…

ये दिन धूप के नहीं हैं…बादल, धुन्ध और टिप-टिप बारिश के हैं। अँधेरा-सा दिन-भर छाया रहता है। बत्तियों के जलते ही जैसे सुबह का उजाला फैलता है। दिन की चहल-पहल जो धुन्ध में दबी-सी रहती है, रात होते ही उछल आती है। वह बैठा रहता है…तब तक, जब तक यहाँ हलचल रहती है। बारिश की टिप-टिप कभी-कभी उसे उखाड़ने की कोशिश करती है। बूंदा-बांदी को वह जानवरों की तरह सिर्फ सर इधर-उधर हिलाकर झेलने की कोशिश करता है। हल्की बारिश हुई तो उस-से टकराकर लौट भी जाती है, तेज पड़ी तो उसे बैसाखियाँ उठाकर चल देना पड़ता है—यहाँ से बायें बड़ी सड़क की बराबरीवाले पेवमेण्ट पर…वहाँ से पीली बत्ती की फक-फक और पैदल-पार के लिए सड़क पर खिंचे सफेद पटरे…सड़क पार कर इमारतों के किनारे-किनारे… और फिर एक पतली-सी गली में…

वह इसी बेंच पर एक किनारे बैठता है…हमेशा एक ही जगह… एक तरफ का हिस्सा खाली छोड़कर शायद कोई दूसरा भी आकर बैठ जाये? कोई नहीं आता। कभी-कभी अगर कोई आकर बैठा भी है तो तभी जब बहुत भीड़ होती है और सभी बेंचें भरी होती हैं। तब लोग थोड़ी देर को सुस्ताते हैं, और फिर मुँह उठाकर किसी तरफ को तेजी से निकल पड़ते हैं। वह भी कहीं एक तरफ बैठा है इस पर कोई ध्यान भी नहीं देता।

बगल की बेंच पर एक विदेशी अपनी पाइप भर रहा है।

विदेशी कहाँ का होगा ? वह सोचने की कोशिश करता है। स्वयं तो कभी ग्लासगो के बाहर ही नही गया···पर शायद इसीलिए बाहर के आदमी को वह एकदम पहचान लेता है, भले ही यह ठीक से न जान पाये कि कौन किस देश का है।

विदेशी ही है। उसकी तरफ घूर-घूरकर देख रहा है। इतनी फुर्सत विदेशियों को ही होती है···विदेशी पर्यटकों को, जो पैदल इधर-उधर चलते रहते है···घूमते-घूमते थक जाते है तो आ बैठते हैं। यह भी है कि यह विदेशी अकेला है, बात करने को कोई होता तब उसे इधर यों घूरने की फुर्सत नही होती···उसे विदेशी की नजरो मे दया का भाव दिखायी देता है···वही जो सभी उन नज़रों मे होता है जो इधर को आती हैं।

उसे हल्की-सी घिन हो आती है। झुर्रियों के नीचे उसके चेहरे का कसाव उभरता है जैसे मैल की काई के नीचे का स्वाभाविक गोरा रंग। बस, इस रंग के अलावा उसका सभी कुछ भद्दा है···मैला कोट-पैण्ट, चिकटी कमीज़ और टाई···मोटी-मोटी ऊँगलियाँ और नाखूनों मे मैल-ही-मैल। उसकी गर्दन हमेशा पैंतालिस डिग्री के कोण पर झुकी रहती है। यों ही झुकी-झुकी गर्दन से वह आसपास···सामने, सब कही देखता रहता है, आँखें सरका-सरकाकर।

"अये···"

उसके मुँह से कोई आवाज़ निकल जाती है···विदेशी की तरफ। विदेशी मुस्कराकर रह गया है।

ये विदेशी बात नही समझते। उसने ऐसे ही बैठे-बैठे कितनों को छेड़ा है, यों ही···ज्यादातर तो दूर ही किसी हिचकिचाहट में हिलगे रह गये हैं···और थोडी देर बाद किसी तरफ को तेजी से निकल गये है··· पता नही क्या लेने···

उसने फिर आवाज दी, इशारा भी किया इस बार। विदेशी उसकी बेंच पर तो नही, हाँ, अपनी ही बेंच पर इधर को खिसक आया है··· और अब कुछ कह रहा है···अंग्रेज़ी ही है, पर पता नही कौन-सी। आदमी को आदमी की बात आज भी इशारों से ही समझनी पड़ती है।

उसकी टांग के बारे में पूछ रहा है शायद। यही होगा। लोगों के पास उसके लिए पहले तो फुर्सत ही नहीं होती। जिसे होती है वह टांग के टूटने की कहानी सुनना चाहता है। जिस किसी को भी थोड़ी दिलचस्पी शुरू होती है वह यहीं से। लोग अपनी तरफ से दया दिखाते हैं जब कि दरअसल वे उसे हर बार उसकी बदनसीबी पर फिर से क्लेश देते हैं···

उसकी गर्दन का कोण थोड़ा-सा फैलता है। मोटी उँगलियाँ उठती हैं और भवों में कुछ सँवारती हैं।

"एक्सीडेंट···बचपन में···"

वह रुक-रुककर बुदबुदा देता है। जानता है कि अगर विदेशी को कुछ नहीं बताया तो वह ऊब जायेगा और थोड़ी देर में ही उठकर चल देगा।

जॉर्ज स्क्वायर के चारों तरफ सड़कों पर कारों और बसों का शोर है···भागती गाड़ियाँ और भागते लोग···पेटियाँ कस-कसकर बाँधे भागते लोग···सड़कों को पार करते हुए लोगों के झुण्ड-के-झुण्ड···कुछ पास ही स्टेशन की तरफ जा रहे हैं। स्टेशन उसने अन्दर से भी देखा है। कभी कहीं गया नहीं। बचपन में जरूर एक बार गाड़ी पर बैठा था···याद नहीं कहाँ के लिए। उसके लिए तो दुनिया में घर से यहाँ तक के रास्ते के अलावा सिर्फ जॉर्ज स्क्वायर के आस-पास का हिस्सा है। एक और रास्ता है जिसमें वह कई बार गया है···साल्ट स्ट्रीट का पुल जिसके नीचे से गीली-गीली-सी सड़क क्लाइड नदी तक जाती है। वह अक्सर इस रास्ते से नदी तक निकल जाता है, नदी के कई पुलों के बीच पैदल चलने-वालों के लिए जो बीच में एक पुल है उससे जाकर ग्लासगो का दूसरी तरफ का हिस्सा छू आता है। उस दिन लगता है कि किसी दूसरे शहर हो आया। अर्सा हुआ उस तरफ गये हुए। यहाँ से भी ज्यादा दूर नहीं है, एक-दो बार बैठकर ही पहुँचा जा सकता है···पर इन दिनों भीड़ बढ़ जाती है···क्रिसमस की भीड़···वह लोगों के रास्ते नहीं आना चाहता!

जाने कहाँ-कहाँ से लोग यहाँ आते हैं। उन्हें देखकर ही वह उनके देशों की कल्पना किया करता है। उनके देशों का अन्दाज लगाना अक्सर

उसके लिए थोड़ी देर का एक मजेदार खेल बन जाता है।

"अरब ?"···वह विदेशी से पूछता है।

गलत। विदेशी ने सर हिला दिया।

"कहाँ-कहाँ जाओगे"···इशारों को अपनी भाषा में मिलाते हुए इस बार काफी कसरत करनी पड़ती है।

"ऊपर हाइलैंड्स, फिर फ्रान्स···हॉलैंड···"

वह इन नामों को जान गया है। कहते हैं, आस-पास की जगहें हैं पर उसके लिए ये नाम पास होने की वजह से परिचित नहीं हुए हैं। उसने ये नाम हर किसी से सुने हैं···शायद जो इधर आता है, उधर भी जाता है···और अब तो इन्हीं नामों को सुनने के लिए पहले से ही तैयार वह अक्सर ऐसे पूछा करता है या ऐसे उत्तर को लेता है जैसे ये जगहें वह खुद भी देख आया है।

बाहर त्यौहार और खुशी का आलम है। लोग तेजी से खरीदारी करते नजर आते हैं···घर में वैसे ही क्रिसमस-ट्री बनायेंगे जैसे कभी उसके घर में बनता था···तब जब उसके माँ-बाप थे। उसके एक्सीडेण्ट के थोड़े दिनों बाद माँ-बाप अलग-अलग रास्ते चले गये···बहन भी अपने प्रेमी के साथ चली गयी···सबने अलग-अलग घर बना लिये" पीछे छूट गया यह घर ··और वह सोशल सिक्योरिटी के सहारे। घर है··· पर उसका क्रिसमस अब यहीं जॉर्ज स्क्वायर पर मनता है, तभी से ही।

यहाँ सजावट तेजी से चल रही है। पेड़ों पर रंगबिरंगे बल्बों की लहरें लटकायी जा रही हैं। एक तरफ गेट बनाया जा रहा है···झिल-मिल करता हुआ। ऊपर स्कॉट की मूर्ति से रंगबिरंगी सजावट नीचे उतरती है···पीछे क्रिसमस-ट्री खड़ा हो चुका है और टूरिस्ट आफिस की तरफ लाल-सफेद रंगों में संत क्लोज खड़ा है···अपने बड़े-बड़े चेहरे से मुस्कुराता हुआ···

हर साल इस चेहरे के मुस्कुराने की मुद्रा यही होती है, जैसे स्क्वायर पर हर चीज की जगह तय है। उसके लिए नया कुछ भी नहीं है। उसने इन रंगों को पहले उगते हुए···और फिर धीरे-धीरे फीका पड़ते हुए देखा है···साल-दर-साल···एक ही ढंग और एक ही क्रम से। वही, कुछ

भी नहीं बदलता। उसकी गर्दन जो पैंतालिस के कोण पर आ लटकी है, वह यही सब देखते-देखते ही···

"क्रिसमस ?"—विदेशी चमकता हुआ पूछता है।

"हाँ···मेरी क्रिसमस"···

एक लड़की बाज़ार करके आयी है। बगलवाली बेंच पर थैला रखकर बैठी और सेंडविच चबाने में लग गयी···चभर···चभर···खत्म करके थैला उठाया और उचकती हुई चली गयी।

उसे हैरत होती है···खाने के लिए बैठना क्यों···? आजकल तो लोग भागते हुए भी खाते चलते हैं!

विदेशी को कुछ लड़के-लड़कियों ने घेर लिया है। वे कुछ बेचने के चक्कर में हैं। पीछे से एक सिपाही आकर उन्हें भगा देता है। यहाँ किसी तरह की ज़बर्दस्ती करना मना है···भीख माँगना भी।

उसे पास की वकनन स्ट्रीट याद आ जाती है। वहाँ उस जैसे लोग खासे पैसे कमा लेते हैं···कोई एक किनारे बैठकर बाँसुरी बजायेगा··· तो कोई नाचते हुए गिटार···कोई माउथ आर्गन ही···नीचे चादर बिछी रहती है···लोग पैसे फेंकते हुए निकल जाते हैं। वह भीख माँगना नहीं माना जाता क्योंकि उसमें किसी किस्म की ज़बर्दस्ती नहीं है।

वह उस सड़क पर जाने से ही कतराता है···इतनी चमकती हुई··· खुश-खुश सड़क···उजले-उजले गलियारे जहाँ-तहाँ फूटते हुए, जहाँ की दूकानें चौंध फेंकती है—कीमती दूकानें, जेवरात घड़ियों जैसे कीमती सामानों की। कहते है, यहाँ चीज़ें बेतहाशा महँगी है, फिर भी सबसे ज्यादा भीड़ उधर ही क्यों रहती है···लोग शायद सिर्फ महँगी चीज़ें ही खरीदना चाहते है। ये सजे-सँवरे खरीदार है···उन्हे देखकर उसके जिस्म मे ढीलापन उतर आता है, जैसे दूकानों के उजाले से आँखों मे अँधेरा छाने लगता है, बैसाखियाँ हाथ से छूटने लगती हैं···उसे लगता है वह आदमी से ऊपर किसी दूसरी कौम की दुनियाँ मे आ गया है···

"अपने देश में क्या काम करते हो ?"

विदेशी नहीं समझता पर सामने बैठे उस आदमी की चुस्ती और आत्मविश्वास देखकर उसे जवाब मिल जाता है। वह कुछ तो करता

है···तभी घूमने निकला है···उसकी बिरादरी का नहीं है···कैसा होता होगा काम करने का सुख···पैसे कमाने ग्रौर फिर उसे खर्च करने का···?

उसकी ग्रांखो में रंगों का कचरा···पिसा हुग्रा कचरा···कलथता है···बाहर के रंग गड्ड-मड्ड होकर पिसते हुए···पिसकर धूल बनते हुए···

सामने एक ग्रच्छी पोशाकवाला बूढ़ा कबूतरों को दाना चुगा रहा है। ढेर सारे कबूतर उस पर घिर ग्राते हैं···उसके इर्द-गिर्द घेरे बनाते हैं। फिर कोई सिर पर बैठता है, कोई हथेली पर तो कोई कन्धे पर। बूढा ग्रकेला, पर तल्लीन है।

चिड़ियों के साथ यों घण्टों खड़े रहने की बात उसकी समझ के बाहर की है। जिस जिन्दगी मे ग्रादमियो के घेरे ही कभी न बने हो, वह पक्षियों के घेरे मे होने की गर्मी को कैसे पहचाने !

तभी एक कबूतर दाना चुगना छोड़कर भागता है, दूसरा उसका पीछा करता है। वे स्क्वायर का पूरा चक्कर लेते हैं···बीच-बीच मे कहीं पल-भर को बैठते हैं···फिर उड़ते हैं। खेल-खिलवाड, ग्राखिर एक इमारत की जगत पर थमते है। जोड़ा है···उसकी ग्रांखों के सामने से सड़को पर जहाँ कहीं एक-दूसरे को प्यार करते लड़के-लड़कियाँ घूम जाते हैं···ग्रांख में कोई किरकिरी-सी रेंगती महसूस होती है···ग्रौरत···?

वह फड़फड़ाकर रह जाता है···गर्दन झटके से ग्रपनी जगह से उखड़ बैठती है···।

"ग्रये···"

वह पुकारता है···पता नहीं किसे। धीरे-धीरे सँभलता है ग्रौर गर्दन को वापस पेंतालिस के कोण पर लाता है।

वे सब जो उसके इधर-उधर चल-फिर रहे हैं···ये लोग···ये सब ग्रजनबी हैं···पराये देश के···जैसे सामने बैठा यह विदेशी। ग्रगर उसके ही देश के होते तो उसे पहचानते भी···या फिर वही इतने वर्षो से परायी भूमि पर पराये लोगों के बीच डोलता फिर रहा है···जहाँ कोई यह नहीं सोचता कि क्यों उसके सारे जीवन में···काम···ग्रौरत···बाहर जाना···कुछ भी नहीं है···कभी कुछ नहीं हुग्रा···उन सभी ने उसे एक

मामूली-सी रहने की जगह और हर माह मुफ्त का कुछ पैसा देकर उसके हाथ झाड़ लिये हैं। सोशल सिक्योरिटी देकर उसे देशनिकाला ही नहीं, आदमियों के समाज के बाहर निकाल दिया गया है। सारा जीवन इसी तरह एक किनारे बेंच पर बैठे रहो···बैठे-बैठे देखते रहो···कहीं कुछ घुसने···हिस्सा लेने की कोई गुंजाइश नहीं···

वह घर छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाकर रहने की नहीं सोचता। माँ-बाप ने सोचा था कि घर उसे सबकुछ दे देगा जैसे समाज सोचता है कि कुछ माहवारी पैसा उसकी जिन्दगी निकाल देगा···

"अ···ये"

वह विदेशी की तरफ इस बार करीब-करीब चिल्लाता है।

"अये···गिव मी अ कैंव···"

"कैंव ?"

धत्तेरे की ! अरे यह तो सभी समझते हैं। वह विदेशी को अपनी जेब से एक सिक्का निकालकर दिखाता है। इसे पहचानो···ब्लडी फूल ! यही अपना रिश्ता है···यह मुलाकात इसके अलावा और कुछ नहीं है··· बाहर की दुनियाँ से उसका रिश्ता यही है···सिर्फ यही···।

उसका चेहरा भीख माँगने की गिलगिलाहट या डर से पीला नहीं, किसी दबे हुए आक्रोश से लाल है···वह गर्मी जो अपने हक से कम मिलने पर हमारे पूरे जीव पर छा जाती है।

धाँसू

बचपन में वह दौड़ता ही रहता होगा। बैठता भी होगा तो उचक-उचक पडता होगा, सीलिंग की तरफ, जैसे कुछ नोचकर ले आना चाहता हो। रात सपनो में बिस्तर समेट ऊपर उठ जाता होगा, लेटे-लेटे ही ऊपर खिचता चला जाता होगा···और ऊपर···वहाँ तक जहाँ वह आसमान की नीली गुदगुदी को हाथों से छू सकता है। जब भी कही पखे को चलते देखता होगा, मन ब्लेड पर टँग बिना रुके हुए घूमते चले जाने को होता होगा···तेज रफ्तार से चक्कर खाते हुए।

और यह तो वह साफ मानता है कि वह ऊपर-नीचे जानेवाले झूलों मे कभी नही बैठा, क्योंकि उसे नीचे जाना पसन्द नहीं आता था। हॉकी फुटबाल भी नही खेला क्योकि उसमें आगे बढकर फिर पीछे आना था। दौड मे ज़रूर सिर्फ आगे जाना था लेकिन किसी दूसरे के आगे निकल जाने का ख्याल ही उससे बर्दाश्त नही हो पाता था···वह वही उतरता था जहाँ सबसे आगे वही निकले। अब तीसरी उम्र के उतार पर भी वह तितली-सा फडफड़ाता ही रहता है जैसे उसके अन्दर कोई राक्षस बैठा है जिसे हर वक्त कुछ-न-कुछ चाहिए···कोई काम, कोई ऐसा काम जिससे लगे कि वह लगातार ऊपर जा रहा है, तरक्की कर रहा है।

बराबर आगे बढते हुए वह अपने कस्बे के ऊपर छाये आसमान के चौखटे तक तो रिटायर होने के पहले-पहले पहुँच गया था, पर खुरखुराहट थी कि दम ही नही लेती थी। तभी राजधानी से अपने एक मित्र-मन्त्री का पत्र मिला, लिखा था कि वह छोटा-सा कस्बा भाई के लिए बहुत ही तंग क्षेत्र पड़ता होगा, उसमे इस युग के सारे गुण हैं, कस्बा कदर क्या जाने,

उन गुणों के लिए एक बड़ा क्षेत्र चाहिए, वह दिल्ली आ जाये···एक जगमग-जगमग ओहदे के लिए निमन्त्रण भी था। काम छोटा, हौदा बड़ा!

अच्छा था। उसके गुणों को जंग नहीं लगेगा, फिर दिल्ली का खुला सपाट मैदान···और उसका माथा भागने के लिए फकफकाने लगा। नाखूनों में कुछ नोचकर घसीट लाने की खुजलाहट उतर आयी। यों जरूरत किसी चीज़ की नहीं थी। जितने पैसे की जरूरत आगे की तीन पीढ़ियों को हो सकती थी, कस्बे ने ही झोली मे डाल दिये थे। शोहरत मे भी नम्बर एक पर था वहाँ। घर के नाम पर एक अच्छी-खासी कोठी थी, लेकिन सितारों की टिमटिमाहट उसकी आँखों मे वक्त-बेवक्त जलन पैदा करती थी···और अब उस पत्र के बाद तो उसे खासी हैरत हो रही थी कि वह कस्बे के ऊपर फैले आसमान के चौखटे के इधर-उधर भी क्यों नहीं देख पाया अब तक!

वह आज ही पहुँच जाना चाहता था, लेकिन खिंच गया। हथकण्डों की पहचान उसे थी।

लिखा--बँधेबँधाये सिलसिले को तोड़कर एक नयी जगह आना, एक नयी शुरुआत का जोखिम···पैसे ज्यादा मिलना चाहिए। उसे संस्था का सर्वोच्च अधिकारी होना चाहिए। पद का नाम भी महत्त्वपूर्ण था—संस्था के इतिहास में जो भी बड़ा पदनाम हुआ हो, उसे फिर से उखाड़कर बैठाया जाये। संस्था का काम मामूली हो सकता है पर उसे गरिमा तो पद के नाम से ही मिलेगी। एक महत्त्वपूर्ण पुराना पदनाम तो निकाल लिया गया, पर उस बेचारे का क्या किया जाये जो काम पहले से ही कर रहा था···मित्र-मन्त्री ने सुझाया कि उसे अतिरिक्त करके संस्था मे ही पचा लिया जाये। वह इतराज कर बैठा। संस्था के कर्मचारियों की वफादारी विभक्त रहेगी···उसे कहीं और काम दे दिया जाये, पर तनख्वाह उससे कम ही रहे···वह भारत में जहाँ कहीं भी लगे।

रस्सी को जब वह वहाँ तक खींच चुका जहाँ उसके टूटने का अन्देशा होने लगा तब वह थमा और मान गया। उस बिन्दु तक उसे दुगनी तनख्वाह दिये जाने का वादा हो चुका था। उसकी सारी दूसरी शर्तें भी मान ली गयी थीं। इतना महत्त्वपूर्ण है वह कि उसके बिना कहीं एक

संस्था का काम रुका पड़ा है, देश उसकी सेवाओं के बगैर चल नहीं सकता···सोच-सोचकर उसका दुबला-पतला शरीर फैलकर एक बड़ा तालाब हो जाता जहाँ पान की गिलौरियाँ हिलोरें उठाती-गिराती ·· इच्छाएँ मेंढकों की तरह फचफचाती। वह एक नयी दौड़ के लिए तैयार था, एकदम तरोताजा, चुस्तदुरुस्त।

राजधानी उतरते ही पहले तो वह चौंधिया गया। चौबीसों घण्टे दिन था यहाँ और भो-भाँ-भर्र में हमेशा बहती हुई दौड़। सभी दूसरे के बाप थे। वह लेटे रहने की मुद्रा में आसमान की तरफ उचाक लगाता था तो यहाँ बन्दे शरीर, मन, आत्मा, दिमाग और न जाने क्या-क्या ढोते हुए दौड़े जा रहे थे, जहाँ जो भी भुँज सकता भुँजाते हुए···उस दिशा की ओर, जहाँ आसमान जमीन की तरफ भुकता है, नीचा होता है और जहाँ पहुँचकर खड़े-खड़े ही सितारों को तोड़ा जा सकता है, भुकी डाल पर लगे फलों की तरह। विशुद्ध शारीरिक स्तर पर चल रही दौड़ हर पल बाहर सड़क पर दिखायी देती थी। संजय-दृष्टि से पहले उसने घमासानी करते हुए उन महारथियों को देखा।

थोड़ी देर के लिए वह बिखर-सा गया। उसकी बूढ़ी हड्डियाँ हार मानते हुए चटचटाने लगीं, लेकिन कुछ और नोचने को आकुल नाखूनों ने जैसे उसके सारे जीव को एक बार फिर कस दिया—खून की सनसनाहट और शरीर की चिकनाहट भले ही उसके पास न हो पर दिमाग में तो वह बीस था। दाँवपेंच की ऐसी माया रचेगा कि बड़े-बड़े धुरन्धर खाँ भी एक किनारे लँगड़ाते हुए कई-कई करते नजर आयेंगे। नीचे से शुरुआत करने में तो पूरी उम्र ठिकाने की जगह पहुँचने में ही निकल जाती है···उसकी शुरुआत ऊपर से होगी ताकि वह ऊपर से ही और ऊपर जा सके। उसके पास वक्त वैसे भी कम था।

कहीं एक कोने में जा पड़ने की बजाय, उसने सीधा जाकर राजनैतिक दाँवपेंचों के धनी अपने एक परिचित नेता के यहाँ डेरा डाला। कायदे से उस जैसे नौकरी-पेशावालों को राजनीतिज्ञों से दूर रहना चाहिए था, लेकिन नौकरी करने साला कौन आया था! वह तो सिर्फ डिब्बे में ठिलने के लिए जो एक बीता-भर जगह चाहिए वह थी। जो

वर्तमान में अटक गया वह आगे कैसे जा सकता है ! उसे तो भविष्य में तैरना था। असली कार्यक्षेत्र तो आगे का था···आगे जो कुछ भी इस शहर मे था। नौकरी तो आज की भी नही पीछे की चीज हो गयी थी। यों भी इस उम्र में आकर उसकी क्या अहमियत वची थी ! कायदे-कानून होगे उसके लिए जो नौकरी के लिए मोहताज हो, उसके लिए अगर कोई नियम थे तो वे जिन्हे वह स्वयं गढेगा।

वात राजधानी मे उगने की थी, सूर्य की तरह प्रगट होने की। सूर्य तो फिर भी नीचे से ऊपर आता दिखता है। वह ऊपर-ही-ऊपर एकाएक भक्क से सामने आ जाना चाहता था।

उन्ही दिनो उसका मेजबान एक विशाल आयोजन कर रहा था। आयोजन की असली विशालता यही है कि कितनी मोटी रकम अनुदान में खीच ली जाती है और उसका कितना मोटा हिस्सा अपनी तरफ सरकाया जा सकता है। वाकी चीजें तो वाहरी आडम्वर मात्र है···पण्डाल, माइक वगैरह तो कुछ फालतू डोलते चमचों के कन्धो पर खडा कर दिये जाते है और आयोजकों, भाषणकर्ताओं और श्रोताओं की क्या कमी··· मन्त्रीगण आयोजन मे आनेवाले हों तो एक नही ढेरो चिपकऊ मिल जायेंगे।

अन्दरूनी विशालता मे उसकी दखल अभी नही हो सकती थी, इसलिए वह वाहर ही चिपक लिया—मित्र के काम मे साथ कैसे न देता ! पर तभी नाखून वजने लगे···सिर्फ आयोजन में सहयोग देना क्या हुआ जब तक उसे अपनी तरफ घसीट न लिया जाय···जैसे ओढने के लिए चादर को घसीटा जाता है।

आयोजन अपराह्न और पूर्वाह्न दो पहरों मे होना था। कार्यक्रम वनाते समय पहले मे उसने खुद को संयोजक वनाया और दूसरे मे अध्यक्ष। चूंकि आयोजन मे भाग लेनेवाले ज्यादातर लोग कल तक उसके समकक्षी थे, इसलिए कहीं कोई भड़क न पड़े इसका इन्तजाम भी उसने कर लिया ···कार्यक्रम ऐन वक्त पर ही वाँटा गया।

सबसे पहले एक वरिष्ठ मन्त्री द्वारा उद्‌घाटन था। उस मंगलमय अवसर के लिए वह खादी की धोती-कुर्ता और टोपी मे पहुँचा। मन्त्रीजी

पर चल रहे आयोजन मे वह केन्द्र-बिन्दु बनकर बैठा था। अपने में और वज़न डालने के लिए पान का एक बीड़ा भी उसने मुँह में ठूँसा और इत्मीनान से कचर-कचर चबाने लगा। तभी उसे ध्यान आया कि अध्यक्ष को कार्यक्रम पर भी नज़र डालनी होती है, भले ही संयोजक उसे चलाता हो। ऐनक निकालकर चढ़ा ली लेकिन कार्यक्रम की रूपरेखा इर्द-गिर्द थी ही नही। अकेला होता तो इस समय किसी भी कागज़ पर नज़र मारकर औपचारिकता निभा देता लेकिन मुख्य अतिथि भी तो थे···और वह भी एकदम बगल मे। अपनी पतली उँगलियों का इस्तेमाल कर उसने एक दूत से कार्यक्रम मँगा लिया। कागज़ पर पहले एक नज़र खुद डाली, फिर मुख्य अतिथि की तरफ बढ़ा दिया।

वह प्रगट हो चुका था। वे सब जो कल तक उसकी बराबरी के थे *आज वहाँ सामने श्रोता बने मौजूद थे···श्रीविहीन···और वह प्रभापुंज* बना अध्यक्षता कर रहा था—सफ़ेद गद्दी पर सफ़ेद पोशाक मे···एक टाँग को लिटाये हुए और दूसरी को मोड़कर खड़ा किये हुए···उस पर अपना दुबला-पतला हाथ रखे, अपनी उँगलियों को आराम से हिलाता हुआ।

कहीं उसे लोग मंच पर रखा एक गद्देदार सोफा न समझ लें, इसलिए वह *अध्यक्षी दिखला देने का मौका ढूँढने लगा।* जहाँ श्रोताओं में थोड़ी खलबली-सी उगती दिखायी दी, तभी उसने बैठे-बैठे ही मुख्य अतिथि के माइक को अपनी तरफ घसीट लिया और अपनी सुरीली आवाज में चहचहाने लगा—"मैं बिल्कुल सहमत हूँ, अभी श्रोता भाई ने जो कहा उससे मै बिल्कुल सहमत हूँ (असहमत होने के लचर-पचर मे कभी नहीं पड़ना चाहिए···यह उसका पुराना आजमाया पैंतरा था। अपनी किसी बात को कहने की तैयारी फिर उस पर अड़ने का कष्ट···यह सब क्यों उठाया जाय···लपककर जो शक्तिशाली पलड़ा दिखे उससे सहमत हो जाइए···आप उस वजन पर चढ बैठेंगे, सहमति शाबासी-सी निकलेगी और आप अपना स्तर इत्मीनान से उस वर्ग के ऊपर खुद ही चस्पा कर लेंगे जहाँ से आवाज आयी थी) श्रोताओं को भी मौका मिलना चाहिए। मैं संयोजक से कहूँगा कि इस भाषण की समाप्ति पर श्रोताओं मे से भी लोगो को बोलने का मौका दिया जाय।"

अपने सामयिक हस्तक्षेप, निर्णय और आज्ञा दे डालने पर परम प्रमुदित, वह माइक से हट गया—"प्रजातन्त्र का ज़माना है···" मुख्य अतिथि की तरफ मुँह करके उसने कहा और खुद ही हँस पड़ा जैसे वह एक बहुत बड़ा चुटकुला था।

खून का स्वाद उसे लग गया था—खुले मैदान मे दौडने का सुख ही और होता है···लेकिन मैदान गौर फड़ाक होना चाहिए, इसलिए दूसरे ही दिन उसने अपने मित्र-मन्त्री से शिकायत की कि यह भी क्या पद हुआ—दस से पाँच···एक कमरे में बन्द—जंगल मे मोर नाचा किसी ने न देखा···प्रभुत्व बस एक इमारत तक सीमित। कुछ ऐसा हो कि वह यहाँ रहते हुए भी सब जगह नजर आये—उसके विषय से सम्बन्धित जितनी नौकरियाँ हों—सरकारी-गैरसरकारी—सबमे उसकी टाँग पहुँच सके, वैसी सभी संस्थाओं का वह सिरमौर बन जाये···ताकि कहीं भी कुछ भी करा सके···कल के दिन मन्त्री का भी कोई काम पड़ सकता है। मन्त्री यह तो समझते थे कि वह जाल फैलाना चाहता है पर बेचारे उसकी हर जिद्द पर मरोड खाते थे! कस्बे में उसकी जो उपयोगिता थी वही अब कस्बे के बाहर भी थी—वह बाहर की जाति-बिरादरी मे मन्त्री का झण्डा गाड सकता था···अपने प्रोफेशनवालों मे मन्त्री को मान्य बनाये रख सकता था···और थोडा फैल पाया तो इतना धाकड़ भी था कि जो बात वे कही कहने से हिचकें वहाँ वह तपाक से उगलकर चला आयेगा···वह काम का बन्दा था। वैसे भी एकाध इस तरह का अन्तरंग पुच्छल्ला इर्द-गिर्द पालना भी होता है···उल्टे-सीधे काम ऐसे हनुमानो के मार्फत ही चलते हैं। अपनी-जैसी संस्थाओ के सघ का वह अध्यक्ष बन गया···उन्हे जो अनुदान देने की सरकारी समिति बनी उसका सदस्य···और राष्ट्रपति का प्रतिनिधि होकर विशेष सलाहकार के रूप मे सभी चुनावबोर्डों मे भी वह बैठेगा···उसका दबदबा एक दांव मे ही कमरे को फोड बाहर निकला और लपलपाता हुआ शहर के चारो कोनो और शहर के बाहर भी थपेडे मारने लगा। मकड़ी-जैसा जाला वह शहर और शहर के बाहर बुनता चला गया···जिससे काम हो उसके किसी काम मे दिलचस्पी लो···अगर उसकी तरफ से कोई काम न भी हो तो बात-बात में उससे काम

उगलवा लो…उसकी पतंग लटक जायेगी । शुरू में कुछ काम करनेवाले बन्दो की एक टुकड़ी खड़ी करनी पडी । तरह-तरह के इम्तहानों की कापियाँ उसके पास जँचने के लिए आती थी…उसने कुछ बन्दों को पकड़ा, फिफ्टी-फिफ्टी के आधार पर। उनसे घर मे बन्द करके कापियाँ जँचाता। काम समय पर, उसकी मुफ्त की कमाई और बन्दों का भी भला। चुनाव बोर्डो में बैठते हुए वह अपने बन्दो को देश के कोने-कोने में फिट करने लगा…और फिर उनसे इसका या उसका काम निकलवाता। जल्दी ही यह टुकडी जियोमैट्रिकल प्रोग्रेशन मे फौज का रूप लेने लगी…क का काम ख से, ख का काम ग से और ग का क से । वह कभी काम सलटाने में आमने-सामने क और ग को नही भिड़ाता था। तब तो वे आपस मे ही एक-दूसरे के शुक्रगुज़ार होकर उससे फूट लेंगे…उसका महत्त्व तो तभी था जब 'क' को 'ग' का पता भी न चले और लगे कि काम उसी ने कराया है। मन्त्रियो के व्यक्तिगत सहायकों का वह विशेष ध्यान रखता। पद के हिसाब से वे भले कही नही हों लेकिन फिलहाल उसके लिए सबसे उपयोगी व्यक्ति थे…मन्त्री से कभी भी मिलने का सिलसिला बैठा देते, उसकी हवा वहाँ बाँधते रहते। अपनी फौज से उसका सम्पर्क बराबर बना रहता क्योंकि काम खूब आने लगे थे। उसने एक और बड़ी प्यारी अदा पाल रखी थी…कही फोन किसी का कोई काम कराने के लिए ही करता था लेकिन बात शुरू करता सामनेवाले के किसी काम से ही। हर चुनावबोर्ड मे बैठता था इसलिए सिफारिशें ढेरो आती…वह बडी बारीकी से उन्हे खीचता चला जाता, वहाँ तक जहाँ उधर की पार्टी छटपटाकर किसी मन्त्री तक न पहुँच जाये…और तब वह मन्त्री को कृतज्ञ करता था।

खुल जा सीसम…और दरवाज़ा खुल गया था। एक के बाद एक मन्त्री उससे कृतज्ञ होते चले जा रहे थे। उसके पास धड़धड़ फोटो इकट्ठे होने लगे…यह इस मन्त्री के साथ, यह उस मन्त्री के साथ…यहाँ मुख्य अतिथि, वहाँ अध्यक्ष…यहाँ उद्घाटन वहाँ समापन। उसका व्यक्तित्व भी तो इन्ही बड़े कामो के लिए ही बना था—गंजी खोपड़ी, फटे बाँस की आवाज़, पोपला मुँह, पान की पीक में और पिलपिलाता हुआ चेहरा

और सतत मुस्कान···नेता छाप मुस्कान ! नेहरू की तरह घर के बाहर वह चूड़ीदार और अचकन में होता था और अन्दर धोती-कुर्ता और जैकेट में···बाहर के लिए टोपी, अन्दर के लिए चांद···अपनी पतली-पतली उँगलियों से तारों को खींचता छोड़ता । अब वह सिर्फ वहीं जाता था जहाँ एकाध मन्त्री उपस्थित हो···स्तवा ऐसे ही गांसा जाता है । उसने अपना स्तर खुद ही मन्त्री का कर लिया था···नीचेवाली बैठकों के लिए तो वे थे जो नौकरी में पैदा हुए थे और जो उसी में मरने-खपनेवाले थे । उसका घूमना फिरना तो बड़ी हस्तियों के इर्द-गिर्द ही था—आखिर कल के दिन उसे वहीं तो उठना-बैठना है । जरूरी नहीं कि राजनीति में शुरू से रहनेवाले को ही यह गौरव मिले—उस घिस-घिस से तो वे गुजरें जिन्हें नेता के गुणों को अर्जित करने में ही एक उम्र लग जाती है··· अवतार तो पैदा होते ही हो जाता है ! आधार तैयार हो चुका था—सभी मन्त्री उसे पहचानते थे । मन्त्रियों के बीच रहते हुए उसका मनों खून बढ़ जाता, जैसे वह भी देश के कर्णधारों में से एक था । व्यर्थ सारी उम्र एक छोटे-से कस्बे को निचोड़ने में गवाँ दी···कस्बा तो निचुड़ गया··· पर वह भी गलता गया···और यह विस्तृत साम्राज्य जो अब उसके सामने फैला पड़ा था इसका अन्दाज भी न हो पाया···दौड़ में देर से उतरा तो अब तेज रफ्तार-भर से नहीं चलेगा···बीच में लम्बी कूद भी काम में लानी होगी । प्रधानमन्त्री की नजरों पर फौरन चढ़ जाना जरूरी था ।

बैठक में आधा घण्टा पहले ही वह पहुँच गया था ।

थोड़ा समय खाका समझने के लिए भी तो चाहिए । बैठक बड़ी महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि प्रधानमन्त्री की थी···उनके साथ पहला आमना-सामना । जो पहली बार प्रभाव बना वही असल होगा, इसलिए इस तरह की बैठकों का अब तक आदी हो चुकने के बावजूद आज उसके अन्दर धुकधुकी चल रही थी···रह-रहकर रोमांच भी हो उठता । आज के मौके लिए खादी की एक नयी ड्रेस भी बनवायी थी—टोपी एकदम कर-करी । सलाहकार को भी साथ ले आया था, आखिर सभी मन्त्री साथ

लाते थे···सलाहकार कभी उसके पद के लिए उसका ही प्रतिद्वन्द्वी था ···इस शहर का जाना-माना व्यक्ति। महत्त्वपूर्ण अवसरो पर साथ ले जाने से उसे सन्तोष और गौण होने की कुण्ठा एक साथ दिये जा सकते थे।

हॉल मे कुछ कर्मचारी कुर्सियाँ लगाने मे व्यस्त थे, कुछ सीटों पर लोगों के नाम रख रहे थे—कौन कहाँ बैठेगा···।

वह कुछ उन व्यक्तियों से मिलता रहा जो उससे बहुत नीचे तबके के नही थे, ताकि थोडा व्यस्त रहे और बैठक के तनाव से भी बचा रहे···लेकिन उसका दिल वहाँ नही था। उसकी तेज दौडती आँखों ने अब तक यह देख लिया था कि गोलाकार मेज मे किसी भी सीट के लिए उसका नाम नही था—आगे की अधिकाश सीटों को मन्त्रियो के लिए छेंक दिया गया था और कुछ प्रेस के लिए थी जिन पर किसी का नाम नही था।

बैठक शुरू होने का समय पास खिच रहा था और हॉल तेजी से भरने लगा था—मन्त्री पर मन्त्री चले आ रहे थे और अपनी-अपनी जगह टटोलकर बैठ रहे थे। उनके अधिकारी ठीक पीछे या फिर आसपास बैठने का इन्तज़ाम लगा रहे थे···कब प्रधानमन्त्री कुछ पूछ बैठें और मन्त्री महोदय को अधिकारी से पूछने की जरूरत पड जाये।

उसके सलाहकार ने अधिकारियोंवाली कतार मे दो सीटें सुझायी··· प्रेसवालो के ठीक पीछे। वह बैठ तो गया···पर बवासीर-जैसी छटपटाहट महसूस हो रही थी। वहाँ वह जरूरत से ज्यादा हल्का पड़ा जा रहा था। अगर यही हाल रहा तो आज उस भूमिका को कैसे निवाहेगा जिसे काफी छीना-झपटी के बाद कार्यक्रम में घुसेड पाया था!

···इतनी बडी बैठक मे उसके होने की बात आयी-गयी हो जायेगी, प्रधानमन्त्री को उसके बारे मे पता ही न चलेगा···सोचते-सोचते उसे युक्ति सूझी थी—जब किसी बडे का ध्यान अपनी तरफ खीचना हो तो ग्रन्थ-विमोचन करा दीजिये। वह जानता था कि बैठक का सचिव रोडा अटकायेगा···इसलिए सीधा जाकर उसने मित्र-मन्त्री को भरा और उन्होंने बैठक के सचिव की बोलती बन्द कर दी—"दो सैकिण्ड का तो काम ही है, ग्रन्थ भेंट कर देना है, आखिर प्रधानमन्त्री को भी तो पता

चलना चाहिए कि उनके यहाँ क्या काम हो रहा है···मैं प्रधानमन्त्री से जिक्र भी कर चुका हूँ···" अपनी तरफ से दूसरे इन्तजाम भी कर लिये थे उसने। सरकारी फोटोग्राफर को धड़ाधड़ फोन किया था, उसे ग्रन्थ विमोचन की गरिमा बतायी थी। फोटोग्राफर समय से पहले ही आ गया था।

उसने अपनी आगे आनेवाली भूमिका को याद किया···जैसे डर के समय हनुमानजी को याद किया जाता है। जेब मे एक कागज कुरकुरा रहा था। महत्त्वपूर्ण रोल था आज उसका—तो वह पीछे क्यो बैठे! दूसरे अधिकारियों और उसमें फर्क था—वह तो उस वर्ग का था जिसमें मन्त्री थे···उसी धातु का बना···सिर्फ जाकर अल्मारी मे सजने की देर थी···आज नही तो कल···

मेढक की तरह उचककर वह आगे की कुर्सी पर आ गया। सलाहकार की समझ में कुछ न आया। वह सलाहकार के दब्बूपन को समझता था, इसलिए वहाँ पहुँचकर पीछे देखना ही बन्द कर दिया। सलाहकार पीछे ही तो बैठा था जैसे दूसरे मन्त्रियों के अधिकारी बैठे थे!

ज्यादातर मन्त्रीगण आ चुके थे। कुछ अपनी सीट के सामने कागज-पत्र रखकर दूसरो के पास जाकर बातें भी करने लगे थे। उसे भी वैसा करने का मन कर रहा था। एक फाइल मेज पर छोड वह पहले मित्र-मन्त्री के ही पास चला गया। वे सजग हो आये···कही लोग यह न जान लें कि वह उन्ही का आदमी था। उसकी तरफ एकाध 'हूँ-हाँ' करके बगल में दूसरी तरफ मुखातिब हो गये। आखिर वह एक उपमन्त्री के पास चला गया। उन्हे वह कालेज के दिनों से जानता था। वहाँ कुछ देर हल्की-फुल्की बातें कर खुद को आश्वस्त करके ही वापस अपनी कुर्सी पर लौटा। लौटते समय सलाहकार की तरफ उसने आँख भी नही उठायी।

प्रधानमन्त्री के आते ही सब खड़े हो गये। 'शुरू करें' उन्होंने अपने सामने रखी फाइल को खोलते हुए कहा। वह तब मित्र-मन्त्री की तरफ ऐसे देख रहा था जैसे बस उनकी नजरें पकड पाया तो धर दबोचेगा। मन्त्री को याद था। उन्होने खड़े होकर प्रधानमन्त्री से ग्रन्थ-विमोचन की आज्ञा ले ली। फौरन ही वह उठा और अपने चेहरे पर अतिरिक्त

गौरव और गम्भीरता विछाये हुए प्रधानमन्त्री की तरफ चल पडा, हल्की चुटकी से उसने अपने सलाहकार को लाल कागज मे करीने से लिपटा ग्रन्थो का एक पैकेट पीछे-पीछे लाने को कहा। उसके पैर तब जमीन पर नही पड़ रहे थे। सबकी आँखें जैसे उसके पैरों के नीचे थी और उन्हें खौदता हुआ वह आगे बढा जा रहा था···गोया कि कोई ऐसी जिम्मेदारी निभाने जा रहा हो जिसका असर देश के इतिहास पर पड़नेवाला था।

प्रधानमन्त्री के बगल मे पहुँचकर उसने बडी ही गम्भीरता से अपनी ऐनक चढायी और सभा को सम्बोधित करके जेब से पर्चा निकालकर पढने लगा—"जिस महान कार्य के लिए वह लाया गया है, वह उसके गुरुत्व को पूर्णरूपेण समझता है···वह इतनी बड़ी जिम्मेदारी के लिए चुना गया इसके लिए कृतकृत्य है···देश ने उस पर जो विश्वास रखा है वह उस पर खरा उतरने की कोशिश करेगा···यह उसकी अग्नि-परीक्षा का समय है···" फिर उसने प्रधानमन्त्री के हाल ही मे दिये गये प्रशासन-सम्बन्धी आदेशों की बड़ाई करते हुए उनके समाजवाद मे अपना जोरदार समर्थन भी घोलना शुरू कर दिया···

विना हिचकिचाये वह मक्खन के थोकडे-के-थोकडे प्रधानमन्त्री के मुँह पर तोप रहा था···जैसे वहाँ चेहरा नही दीवार का कोई हिस्सा था जिस पर छपाई की जा रही थी। वह जानता था—चापलूसी बारीक नही मोटी-मोटी और एकदम थोक के भाव होनी चाहिए···उसके मुँह से प्रशस्ति-वाक्य एकलव्य के वाणों की तरह सर्र-सर्र निकल रहे थे।

पटरी पर इंजन धाँय-धाँय चला जा रहा था। सब पस्त होकर असहाय-सा देख रहे थे। मित्र-मन्त्री चुपचाप ऐनक लगाये शुतुर्मुग की तरह सामने फैले कागजों में घुसे जा रहे थे। बैठक के सचिव अलग बौखलाये हुए थे कि ग्रन्थ-विमोचन था एक मिनट का और वह ले गया पूरे दस मिनट। उसने अपना पूरा समय लिया···भाषण खतम कर उसने चुस्ती से ऐनक हटायी और सलाहकार से लाल कागज़ मे लिपटे उस बण्डल को लेकर एकदम प्रधानमन्त्री के सामने आ गया, धनुषाकार होकर भेंट किया···समर्पित कर चुकने के बाद भी वह फोटो के लिए खड़ा

रहा—एक फोटो···प्रधानमन्त्री लाल फीता खोलते हुए, दूसरा किताबें उठाते हुए, तीसरा खोलकर देखते हुए···सभी में वह—कभी पीछे, कभी बगल में और कभी ऐसे खड़ा हुआ जैसे प्रधानमन्त्री को परामर्श दे रहा हो···

बड़ी मिठास और पुलक के थे वे क्षण। फोटो खिंच चुके थे···पर वह अब भी खड़ा था···

आखिर लोगों की नज़रों ने उसे वहाँ से हटा ही दिया। जब वह वापस अपनी कुर्सी पर बैठा तब भी उसका रोम-रोम उचक रहा था··· वह कुर्सी पर नहीं जैसे पुष्पक विमान पर बैठा उड़ा जा रहा था।

देवताओं के रथ की तरह अब उसकी सवारी जमीन से थोड़ा ऊपर ही चलनेवाली हो गयी। उसे लगता जैसे वृत्त की बाहरी लकीर से शुरू करके अन्दर के वृत्तों को काटते-काटते आखिर अब वह सबसे अन्दरूनी उस छोटे-से वृत्त में आ पहुँचा था जो देश में सबसे महत्त्वपूर्ण था··· जैसे इस बार चक्रव्यूह में अभिमन्यु नहीं अर्जुन घुसा था। वह अब देश के उन गिने-चुनों में हो गया था जिनकी छींक भी महत्त्वपूर्ण होती है। अपने समय की महत्ता भी उसे बराबर कोंचती—परिवार, दफ्तर, पड़ोस, दोस्त···इनके लिए समय ही कहाँ था! छोटी-छोटी बातों में वह समय को कैसे घिसे जिसे अब सिर्फ बड़ी-बड़ी चीजें ही सोचनी थीं! वह अनायास ही हर चीज को राष्ट्रीय स्तर पर ले जाकर सोचता और बात करता होता—दफ्तर में स्टेनोग्राफर को कुछ और काम देने की बात हो तो देश में इस वर्ग के लिए क्या कार्यतालिका हो···वह इस पर गौर करता होगा। पुस्तकालय में किताबों की खरीद की बात हो तो किस तरह की किताबों से राष्ट्र का चरित्र बनता है···वह इस पर उचक जाता।

जहाँ ठहरा था वह जगह उसे अब छोटी लगने लगी। उसका वह दोस्त भी बौना था···सालों से चप्पलें रगड़ते हुए बस यहीं तक आ पाया कि लोगों को जता सके उसकी जान-पहचान सब जगह है, वह कहीं कोई

भी कान करा सकता है, अनुदान हथिया सकता है···कमबख्त दलाली करता ही मर जायेगा !

जल्दी ही उसने अपने लिए एक बड़े घर का बन्दोबस्त किया। सजावट मन्त्रियों जैसी ही हो···सो दफ्तर की तरफ से सोफे के दो सेट ड्राइंग रूम में डलवा दिये, उम्दा पर्दे भी। एक तरफ एक छोटा-सा दफ्तर खोल लिया···जहाँ पी० ए० बैठता था। एक फोन बड़े दफ्तर से इस छोटे दफ्तर के लिए घसीट लिया। एक फोन घर का अलग से था ही ···हर मन्त्री के घर दो फोन होते हैं ! मिलनेवालों को घर पर भी समय दिया जाने लगा···यह छोटे दफ्तर का काम था···फाइलों को छोटे से बड़े दफ्तर और बड़े से छोटे के बीच सरकाते रहना भी एक काम था।

अजनबी आदमियों के फोन पर वह बड़ी मुश्किल से आता, पी० ए० से ही टरकवा देता···मीटिंग और बाथरूम के बहाने अच्छे लगते थे। नयों को फौज में शामिल करने के पहले उनके बारे मे इधर-उधर से जानकारी लेना ज़रूरी था। परिचितों को व्यस्त दिखाता···सिर्फ उन्हीं से बात करता जो काम के आदमी थे। अपने दलाल-दोस्त को धीरे-धीरे काटने लगा···कमबख्त हर वक्त कोई-न-कोई सिफारिश पेले रहता था और काम धेले का नहीं। इर्दगिर्द व्यस्तता का माहौल तान लेने से उसका व्यक्तित्व और भी वजनी हो आया था।

व्यस्त वह था लेकिन उन बैठकों के लिए नहीं जिनकी सूची वह परिचितों को गिनाता था। अब उसके सामने सत्ताधारी पार्टी के वरिष्ठ नेताओं की सूची थी···और उनके यहाँ चक्कर लगाने का बाकायदे लिखित कार्यक्रम इसके यहाँ दस दिन बाद फिर···उसके यहाँ हर चार रोज बाद···एकदम दवाई खाने की मुस्तैदी से। कहीं प्रधानमन्त्री के दिमाग से उतर न जाये, इसलिए एक बार उनके यहाँ भी हो आया। समय लेने के लिए बहाना चाहिए था और वह भी वड़ा सो कहलवा दिया कि वह उन पर पुस्तक लिखनेवाला है···आज्ञा लेना है। वह जानता था कि खुद पर किताब लिखवाना तो अच्छों-अच्छों की कमजोरी होती है। पाँच मिनट का समय मिल गया जिसमें उसने ग्रन्थ-विमोचन की याद ताजा कर दी, प्रधानमन्त्री की नीतियों का फिर से समर्थन कर डाला···पुनः

पुष्पं समर्पयामि···और अपनी समाजसेवा के कार्यों का कवित्वमय वर्णन करते हुए यह इशारा भी दे आया कि उसका असली कार्यक्षेत्र तो जनता की सेवा का ही है···

मन्त्री के लिए भी उसके पास अब अक्सर समय नहीं होता था··· क्या जरूरत थी···वे तो उसके मित्र ही थे, उसे यहाँ लाये थे। काम-काज की बात हुई तो अपने मातहतों को भेज देता। उनके साथ व्यक्तिगत बैठकें कम कर दी थीं···वे बेकार के आदमी लगने लगे थे—राजनीति मे जड़ें ही नहीं थी। इतने सालो से मन्त्री थे लेकिन अभी तक राजनीति जैसे उनके लिए कीचड़ थी। बुद्धिजीवी होने के नशे में बराबर झूमते रहते···अरे, यही नशा था तो मन्त्री ही क्यों बने! मन्त्री जब तक थे तभी तक थे···कभी भी निकालकर बाहर फेंके जा सकते थे···उनके पद के लिए तो वह हर दृष्टि से बेहतर रहता···वह तो उस वक्त तक प्रधानमन्त्री की नजर मे नही चढा था वर्ना क्या पता उनकी जगह आज वही होता···शायद सबसे बडी बात यह थी कि मन्त्रीजी उसके लिए जो कुछ भी कर सकते थे, कर चुके थे···राजनैतिक क्षेत्र मे ठिलने के लिए उनसे रत्ती-भर भी मदद नहीं मिल सकती थी क्योंकि वहाँ वही घोंचू थे···उनकी उपेक्षा करते वक्त कभी-कभी दोस्ती की बात याद करके जो खरोंच उठती तो उसकी वह थुथनी ही मसल देता—आखिर थोड़ी मोटी चमड़ी तो पहननी ही होगी···कल के दिन अगर इसी पद का भार उसे सँभालने को कहा गया तो क्या वह दोस्ती-जैसी लिजलिजी बातों मे पड़ेगा···और फिर राजनीति का तो यह पहला अध्याय ही है कि सबसे पहले उसे काटो जिसने तुम्हे बनाया···

मित्र-मन्त्री अक्सर उपेक्षा से क्षुब्ध होते लेकिन क्या कर सकते थे—लाड़ले बेटे की दस बातें सहनी पड़ती हैं। जब वे ही उसकी प्रशस्तियाँ गा-गाकर उसे लाये थे तो अब किस मुँह से उसकी भर्त्सना करते··· अपना पैर खुद ही काट बैठे थे।

काफी दिनों तक तो वह दो घोड़ों पर चढा रहा—एक पैर यहाँ, एक पैर कस्बे मे···दोनों पदों की जिम्मेदारी सँभालता था, इसलिए दोनों जगहों से तनख्वाह फटकारता था। जब ज्यादा फजीहत होने लगी तो

मित्र-मन्त्री ने उसे घेरा और वहाँ से रिटायर हो जाने के लिए किसी तरह तैयार कर लिया···तब भी उसका वहाँ जाना बन्द नहीं हुआ—नीचे के पदों पर अपने मोहरे फिट करने पहुँच ही जाता था। एक बार उसके उत्तराधिकारी ने कहा भी कि गुरुदेव बुढ़ापे में आप कस्बे और राजधानी को नाप-नापकर क्यों शरीर को कष्ट देते हैं, सो राजधानी लौटकर उसने उसका ही पत्ता कटवा दिया। आखिर उसकी भी कोई हस्ती थी!

सवेरे चारपाई से उठते ही उसे खिड़की मे ही सामने ढिली स्टाफ-कार जरूर दिखना चाहिए···जैसे कुछ को चाय या अखबार चाहिए··· न दिखी तो उसे लगता कि वह दौड मे पिछड रहा है। चपरासियो की एक छोटी-मोटी टुकडी घर मे तैनात थी···एक पान-पत्ता के लिए, एक खाना बनाने को तो एक बगीचे के लिए। अगर वह इन इन्तजामों में पडता तो देश का ही समय तो बरबाद होता! ऋषिवत उसकी दुबली-पतली काया को मालिश की भी जरूरत थी···वर्ना भागता कैसे···फिर मालिश की परम्परा तो नेहरू के जमाने से थी। एक राजनैतिक बैठक भी रोज चाहिए। जिस दिन किसी राजनैतिक हस्ती से साक्षात्कार नहीं हुआ, दिन बेकार गया। सवेरे से निकल भी पडता—कही पुराने सम्पर्क ताजा करने—कहीं नयी गोटें बैठाने। दफ्तर के लिए एक-दो घण्टे निकाल लेता था, दस्तखतो के लिए···तारीख व्यक्तिगत सहायक डाले। दस्तखतों और तारीखों को मिलाकर भी उसका कुल लिखना अब तक आधा पेज भी नही हुआ था। लिखने के लिए अपना कोई मत या निर्णय चाहिए··· और फिर फँसते वही है जो लिखते है। वह क्यो लिखे—अगर कोई गल्ती होगी तो नीचेवाले की जिसने लिखा था। मीटिंग जरूर जब-तब कर लेता था—एक कान्फ्रेन्स-रूम बनवा लिया था जिसमे सबके हाजिर हो जाने की खबर पा लेने के बाद ही वह पहुँचता···ताकि लोगो को खड़े होते देख सके। नीचे के अधिकारियो की बातें सुनता रहता था···सर *हिलाते हुए, पर दरअसल उस वक्त वहाँ होता ही नही था···उसकी* उँगलियाँ नये तारो की खोज मे उसे कही और ले उडती थी···पीछे छूट जाता था उसका सर हिलाता शरीर जिससे बैठक के सदस्य अपने-अपने

खोपड़े मारते रहते। इधर उसे अपने चरण छुलवाने में पुलक की अनुभूति होने लगी थी···अब तक चरण-रज लेनेवाली जमात तैयार भी हो गयी थी···ज्यादातर को नौकरी पर उसी ने रखवाया था'' कुछ को भविष्य में उम्मीद थी। ऐसा कोई मिलनेवाला हो तो बाहर बैठाये रखता जब तक कोई चरण न छूनेवाला मिलने के लिए न आ टपके। फिर उसी के सामने बाहर से चरणरज लेनेवाले बुलाये जाते···सामने बैठा व्यक्ति संकोच मे जलता जाता। भविष्य के लिए सीख भी सकता था! पौजिटिव और निगेटिव को छुआकर बिजली की जो चिलक छूटती उसका वह परम आनन्द लेता···अक्सर निगेटिव को अन्दर टाँगे रहता··· जब तक नाटक के मंचन के लिए कोई पौजिटिव न आ जाये।

वह एक जरूरी काम भी करता था—दफ्तर के निकम्मे, कामचोरों को कमरे मे बुलाकर अक्सर चाय पिलाता, उनके हाल-चाल पूछता, सलाह-मश्वरा भी करता दिखाता, उनके छोटे-छोटे कष्टों को दूर कर देता। आखिर वे लोग भी तो नागरिक थे···और स्वतन्त्र देश मे वे काम न करने के लिए भी स्वतन्त्र थे···यही वर्ग था जो ऊपर शिकायतें करता था, इसलिए उसके मुँह को समय-समय पर भरते रहकर उसे बन्द रखना जरूरी था···

प्रथम श्रेणी की प्रतिभा से पीड़ित होने के बावजूद वह विनम्र था—मानता था कि बिना आशीर्वाद कोई कही नही पहुँच सकता। साधुओं से आशीर्वाद की परम्परा ऐसे ही नही दशरथ के जमाने से आज के नेताओं तक चली आयी है। हरिद्वार की पवित्र नगरी के निकट एक दुर्गम स्थान के बाबा का वह चेला बन गया। बाबा ने कहा—"बेटा, तुम दौड़ जाओ, और जब भी संकट में हो इधर दौड़ आओ···तुम देश मे बड़े काम करोगे···बड़े-बड़े हथकण्डे तुमसे सिद्ध होंगे···"

बाबा का प्रताप उसने आजमाकर भी देख लिया। एक बार संसद में उसकी गैर-जिम्मेदारी को लेकर दफ्तर के बाहर कही से खतरनाक सवाल उठ खड़े हुए। वह झट से हरिद्वार दौरे पर निकल गया···वहाँ से पैदल बाबा के स्थान तक। चौबीस घण्टे शान्ति-लाभ करता रहा। मन्त्रालय ने झख मारकर सवालों का जवाब दिया—शिकायतें बेबुनियाद

हैं, यह बहुत ही प्रतिभावान है। एक बार जब मन्त्रालय ही एलानिया यह कह चुका तो अब किस मुंह से कोई जाँच-पड़ताल करता···वैसे भी वह मन्त्री का मित्र इसलिए सरकार का दामाद था !

बाबा की कृपा से सब आननफानन रफूदफू हो गया। मौके पर से गायब हो जाने के अनगिनत लाभ भी उसने पहचान लिये। उसे यह भी समझ में आ गया कि अगर लोगों को आपके आने-जाने की खबर होने लगी तो वे आपकी चालें समझने लगते हैं। इसलिए कब वह कहाँ जाता है, इसकी हवा भी अब किसी को नहीं लगने देता था। एक पहुँचे हुए गोता-खोर की तरह इस किनारे डूबता और उस किनारे निकलता···खोज मचती तो कभी अपने कस्बे···कभी मद्रास···और कभी हरिद्वार में प्रकट होता। संसद के सवाल या दूसरे महत्त्वपूर्ण मसले चें-चें करते रहते··· किसी तरह उनकी बोलती बन्द की जाती। बाबा का प्रताप ! अब तो जब भी संकट हुआ, वह अन्तर्ध्यान हो जाता था···उस अदृश्य शक्ति की उपासना में जो सबकुछ को फुस्स कर देती। जब स्थिति सामान्य हो जाती तब वह अवतरित होता, अपने असली कर्मक्षेत्र में पुनः प्रवृत्त होने के लिए···

वह 'प्रभू' हो गया था !

मित्र-मन्त्री और बाबा थे···पर जब वह अपनी मंजिले-मक्सूद की तरफ दौड़ लगाता तो उसकी लगाम दोनों में से किसी के हाथ में नहीं होती थी। बाबा छत्रछाया के लिए थे और मन्त्री हगमूता साफ़ करने के लिए। प्रधानमन्त्री के 'क्रान्तिकारी कार्यक्रम' का बड़ा हल्ला था··· उसे धुन आयी तो उसने भी पोस्टर बनवा डाले—अपने कार्यालय को भी 'कार्यक्रम' से खींचतान कर जोड़ते हुए। उन्हें शहर की दीवारों पर चिपकवाने का आदेश भी दे डाला···कहीं-न-कहीं प्रधानमन्त्री की नजर पड़ जायेगी और फिर वह ठवक से मन्त्री···पीछे से राज्यसभा के लिए मनोनीत। तभी कहीं मित्र-मन्त्री की नजर एकाध पोस्टर पर पड़ गयी। बुलाकर 'प्रभू' को समझाया कि सरकारी पोस्टर छपवाने का एक खास प्रोसीजर है···उसे एक खास विभाग करता है। वह सकपका गया। हाँफता-हाँफता दफ्तर आया, फौरन ही दीवारों से पोस्टरों को हटाने के

लिए दूत भेजे···

उस दिन वह काफी नर्वस था।

चुनाव आ गये थे। शहर का नक्शा बदल रहा था। हर दिन देश के कोने-कोने से लोगों के जत्थे शहर में उतरते और जहाँ कहीं भी सड़कों के किनारे-किनारे गिरोह में इधर-उधर जाते दिखते थे। लोगों के घरों में बारात-की-बारात टिकी होती। टिकट बँटने के दिन थे। सब लोग अपने-अपने नेताओं को पकड़ रहे थे। उनके घरों पर मेले का आलम था—ऐसा लगता था कि जैसे सैकड़ों लोग बारी बदल-बदलकर वहाँ धरना दे रहे थे।

वह खुश था—जाल फैलाने का मौका पर्याप्त मिल चुका था। अब समय था जब राजनैतिक सम्पर्क भुँजाये जा सकते थे। मन्त्री-पद पर तकनीकी योग्यता के ढिंढोरेवाले टेढ़े-मेढ़े रास्ते से न सही तो सीधा चुनाव से होते हुए दौड़कर चढ़ा जा सकता था। चुनाव-क्षेत्र भी पका-पकाया था···उसका पुराना कस्बा···जहाँ राजनीति में न होते हुए भी वह लगातार आता-जाता रहा था···हफ्ते मे ढाई दिन का अज्ञातवास तो वहाँ करता ही था!

लेकिन बाहर निकलने के पहले उसे अपनी कुर्सी पक्की कर लेनी चाहिए। मित्र-मन्त्री को तो जाना ही था। उसे कौन टिकट देगा···एक बुद्धिवादी अभ्याशी में हमेशा अलग रहा आया, बेवकूफ! बस कुछ दिनों का जलवा, जिसमें अपने बन्दों को जरूर इधर-उधर चिपकवा गया। 'भाई, जाने के पहले यह सिलसिला पुख्ता करते जाओ' उसने साफ-साफ कहा। मित्र-मन्त्री थोड़ा तो दोस्तों का ख्याल करनेवाला था ही··· अब तो उसकी लगन और परिश्रम को देखकर दहशत भी खाने लगा था···कौन जाने कल के दिन वह वाकई मन्त्री बन बैठे! तब आज का इनवेस्टमेण्ट कल काम आयेगा···बोला—जो अपने लिए कर रहा है वही उसके लिए कर देगा—बाहर एक गैर-सरकारी रिसर्च संस्था में इससे भी ज्यादा तनख्वाह। उसे बात जँची नहीं। अब इस उम्र में काम

किससे होगा ! उसे तो चाहिए मल्कियत और काम सिर्फ दस्तखत का··· तो भाई, ऐसा करो कि बाहर से तो नियुक्ति का खर्रा आ ही जाये, ताकि सरकारी फाइल पर उसकी काबिलियत का ठप्पा जड़ जाये···और फिर यह कहा जाये कि यहाँ उसके बगैर काम नहीं चलेगा सो यहीं उतनी तनख्वाह देकर रोक लिया जाये। मित्र-मन्त्री मान गये। हो गया। बाद में उसे फिर कुछ कौंधा···कि पुख्तई तो आयी ही नहीं···अगले तीन वर्षों के लिए 'कार्न्ट्रैक्ट' भी सरकार की तरफ से कर लिया जाये। मन्त्री हिचकिचाये—दो लोगों की बात तो ठीक, पर 'नोट' कौन बनायेगा और बिना 'नोट' के सरकार में कहीं कुछ होता है···मन्त्री तो नोट बना नहीं लेंगे। वह विलाप करने लगा—"बीच भँवर में ही नैया को छोड़ जाना था तो उसे पुरानी जगह से उखाड़ा ही क्यों" वह न यहाँ का हुआ, न वहाँ का रहा।" 'प्रभु' की लीला के आगे मित्र-मन्त्री ढह गये··· जहाँ इतना, चलो थोड़ा और सही। किसी चमचे अधिकारी को पकड़ेंगे।

वह अपनी होशियारी से गदगद था···चुनाव के तूफान में खुद को डाले दे रहा था, बगैर नींव की पुख्तई का ख्याल किये हुए। दुगुने आत्म-विश्वास से अब वह घोड़े पर जा बैठा···और टिकट की दौड़ में पिल पड़ा।

एक भारी-भरकम मन्त्री से सम्बन्ध इधर काफी गाढ़े हो गये थे। टिकट दिलाने में उनका हाथ लम्बा होना था। दनदनाता हुआ पहुँच गया। ये मन्त्री बड़े ही मीठे स्वभाव के थे···'न' तो कभी करना ही न जानते थे चाहे कोई राष्ट्रपति बना देने के लिए ही क्यों न कहे···वचने का दरिद्रता ! पर आज सिर्फ वचन की बात नहीं थी···वह घेरे बैठा रहा, जब तक पार्टी के दफ्तर को फोन नहीं चला गया। फौरन स्वयं जाकर अपने सामने पहली लिस्ट में नाम भी चढ़वा लिया। पहली सीढ़ी पार। उसी दिन यह भी पता कर लिया था कि पहली लिस्ट को विचारनेवाली समिति में कौन-कौन हैं···दो दिन में ही उन नेताओं के पास अपनी याद ताजा कराने के लिए हो आया। अभी चुनाव का जिक्र नहीं किया था···इतने पहले से यहाँ कुछ नहीं होता। समिति की बैठक के

एकदम पहले ही ठीक रहेगा। पार्टी के दफ्तर में एक दूत से साँठगाँठ भी कर ली। नीचे का स्तर साधना भी जरूरी है···नहीं तो कहीं पता ही न चले कि कब बैठक हो गयी।

कि तभी एक हादसा हो गया···भारी-भरकम मन्त्री अपने पिछलग्गुओं के साथ दल छोड़कर चल दिये। वह घबरा गया। बाबा की याद आयी···लेकिन जब तक वहाँ जाता तब तक यहाँ काम तमाम हो जाना था। मन-ही-मन सुमिरन करके सन्तोष कर लिया और अपने चोले को बदल डाला। भारी-भरकम मन्त्री का नाम भी मुँह से लेना गुनाह था··· कहीं लिस्ट में उसके नाम के सामने मन्त्री महोदय का नाम तो नहीं लिख गया···दौड़ा गया। लिखा था क्योंकि सिफारिश उनकी थी। उसे कटवाने में दो दिन पसीना बहाना पड़ा। जिस दोस्त के यहाँ शुरू में ठहरा था उसका भी मामला खटाई में था। इसलिए उसके साथ भी आते-जाते कहीं नहीं दिखना चाहिए। राजनीति में सबको सब तरह की खबरें पहुँच जाती हैं।

घबराया-घबराया एक दूसरे मन्त्री के पास गया सलाह लेने···आगे की चाल कैसे खेली जाये···प्रधानमन्त्री या पार्टी के अध्यक्ष से कैसे सीधे जाकर कहा जाये कि मेरे नाम का ख्याल करें। मन्त्रीजी ने सलाह दी कि अपने कस्बे जाकर वहाँ की पार्टी-यूनिट से एक बयान अपने पक्ष में निकलवा दे, उसके बाद फौरन यहाँ आ जाय और फिर शहर में ही रहे ···पता नहीं कब जरूरत पड़ सकती है, कब पार्टी में हाईकमाण्ड का बुलावा आ जाये···।

वह दौड़ा-दौड़ा कस्बे गया। सभी से मिला लेकिन सबने उसे कस्बे में दल के खिलाफ जो हवा थी, वह सुंघायी, चुनाव-अभियान में पत्थर, जूते कुछ झेलने पड़ सकते हैं···क्या वह तैयार था ? चुनाव तो दूर, बयान निकलते ही लोगों की मार···नफरत···सब इसी की तरफ आ जायेगी ···उसकी गुप्त-से-गुप्त चीज का भी विपक्षी दल पता लगा लेगा···और फिर उसकी पगड़ी बाजार में खूब उछलेगी···कस्बे में उसके कारनामे, मौजूदा दफ्तर में उसके रवैये···सभी कुछ···यहाँ तक कि यह भी कि उसके दो बीवियाँ थीं···वह घबरा गया। हवा उसके खिलाफ थी···

लेकिन वह था कि अपनी पतली उँगलियों से गोटें बैठाता हुआ अब भी तैर रहा था···हो सकता है कि आगे हवा ऐसी बिगड़ी न रहे। राजनीति में रुख पलटने में देर कितनी लगती है! इसलिए किसी तरह चुपचाप नाम निकल जाये···फिर देखा जायेगा···नाम वापस तो चाहे जब लिया जा सकता है।

मित्र-मन्त्री ने एक बार धीरे से बताया कि चुनाव के लिए नौकरी छोड़नी पड़ेगी तो एकदम बिगड़ गया। उसे लगा जैसे मित्र-मन्त्री हमेशा से उसके खिलाफ थे···वह उनके पद पर न आ बैठे···यह उन्हें कभी भी गवारा नहीं था। यह क्या बात हुई···नौकरी क्यों छोड़े···वह छुट्टी ले लेगा चुनाव के लिए!

हमेशा की तरह वह फिर दोनों घोड़ों पर बैठे रहना चाहता था और जमाना था कि उसके खिलाफ हुआ जा रहा था। हर प्रतिभाशाली के लिए लोग ऐसे ही रोड़े अटकाते हैं···पर वह हार माननेवाली नस्ल का नहीं था—सुबह से शाम तक भागता रहता, मन्त्रियों से नीचे संसद-सदस्यों पर उतर आया···जिस किसी के बारे में सुन लेता कि वह प्रधान-मन्त्री से मिलता-जुलता रहता है, उसी के पास पहुँच जाता। प्रधानमन्त्री से भी मिलने के लिए समय माँग रखा था। बस, कोई लिस्ट पर विचार होते समय प्रधानमन्त्री से उसके नाम की सिफारिश कर दे···बाकी, नाम तो उनका परिचित ही था···सर्र से निकल जायेगा। स्टाफ-कार के ड्राइवर को उसे इस तरह भागमभाग करते देख तरस आता। उसका कहना था कि पहले अपने दफ्तर में तो वोट लेकर देख ले जो दो प्रतिशत भी मिल जायें···बेकार ही पसीना-पसीना हुआ जा रहा है।

नाम पहली लिस्ट के आगे न जा सका—राज्यसभा के स्थान दिला-कर कितनों के साथ उसे भी चलता कर दिया गया। मन्त्री की सलाह मान वह शहर में डटा रहा और बाबा को भूल गया, इसीलिए घबरा सा गया···पर चलो, अच्छा ही हुआ···चुनाव में उतरना तो जूतों-चप्पलों की मार झेलनी पड़ती और उसके बाद निराशा भी। चुनाव में बड़े-बड़े ढह गये थे।

यह चुनाव कोई हवा नहीं बवण्डर था। गलत होने पर उसे अपने

सम्पर्क छोटे-छोटे रद्दी के टुकडों-से इधर-उधर उडते नजर आये। हवा उन्हें बुहारकर ठिकाने लगा रही थी···रेगिस्तान-ही-रेगिस्तान नजर आ रहा था। उसकी हड्डियाँ अक्सर चटचटा उठती। पुरानी सरकार के गैर-जायज कारनामों के पुलिन्दे खोले जा रहे थे···इधर-उधर से उसका नाम भी उछल रहा था···तीन सालवाले कान्ट्रैक्ट का काम कच्चा ही रह गया था। मित्र-मन्त्री के दस्तखत के बाद उस फाइल पर कही यह भी लिखा गया था कि नये मन्त्री को दिखा लिया जाये···कुर्सी हिलती नजर आती थी।

'सर्वाण् धर्माण् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज'···उसे याद आया और वह बाबा की शरण मे गया। बाबा ने आशीर्वाद दिया—"वत्स, तुम्हें ईश्वर ने सुरीला कण्ठ दिया है, जाओ कर्मक्षेत्र में पुनः प्रवृत्त हो···।"

पेश्तर इसके कि अन्धड़ की फूंक उस तक पहुँचे, उसे जल्दी ही कुछ करना था। एक नये मन्त्री के ससुर से रिश्ता निकाल उनसे मिलने गया पर मन्त्री घाघ निकला, टाल गया—सबको शक की नजरो से देखता था। वे बडी बेचैनी के दिन थे। आसपास सबकुछ सूखा था। जीवन मे जैसे कोई मकसद नाम की चीज ही नही बची थी। आँखो मे तड़प थी···कही कोई सुराख दिखे जहाँ से खुलककर अन्दर घँसा जाये···कि तभी नजर एक निमन्त्रण पर पड़ी—अभिनन्दन···सहोदर ग्रन्थ-विमोचन जो उसका ही आविष्कार था। एक नही, तीन-तीन मन्त्रियों का अभिनन्दन था···कोई उसका भी चचा निकल आया—एक दाने से तीन-तीन!

उसकी इन्द्रियाँ एकाएक झनझना गयी और वह उठकर बैठ गया। वह किस गर्त में जा गिरा था कि उसे यह भी न दिखायी दिया कि दौड़ शुरू हो चुकी थी। लोगबाग अपनी-अपनी चूहेदानी, बम्मी आदि लिये 'फाँस' के लिए घूम रहे थे। कोई बढ-बढ़कर नये मन्त्रियो के इण्टरव्यू ले रहा था तो कोई उनकी पत्नियों मे नारी के शाश्वत गुणों की खोज कर चुका था। कोई जीती पार्टी को इतिहास की उपलब्धि बता रहा था तो कोई हारी पार्टी पर एक और लात मारते हुए दिखायी देना चाहता था। जीतो की प्रशंसा और हारों की निन्दा में किताबें फड़फड़ा रही थीं।

जो ज्यादा रँगे थे वे अपनी सफाई देने में लगे हुए थे।

चुनाव के अन्धड़ के फौरन बाद जैसे चन्द्रबरदाई के पद के लिए मारामारी चालू थी···बन्दे वही थे जो कल तक उधर का गुणगान करते थे···एकाएक अब दूसरी तरफ को मुँह बाये भागे जा रहे थे···जैसे कि वे कब के भूखे थे और तत्काल ही कोई मन्त्री उनके मुँह में न गया तो वे पगलया जायेंगे···जैसे कि खाली मुँह उनकी साँस नहीं अटकती थी। तेजी से एक घेरा नये मन्त्रियों और जनता के बीच उग रहा था···नये मन्त्रियों के चारों तरफ लपेट कस रही थी जिसमें कि वह तबका भूल जाये जहाँ से वे आये थे, फूलमालाओं से सर ही नहीं उठा सकें, कभी उठायें भी तो सिर्फ उन्हें ही देखें जिनसे वे घिरे थे···जनता से सम्पर्क बनाये रखने के नाम पर उन्हीं के आयोजनों में जा-जाकर सन्तुष्ट रहें, उन्हीं के घर भरने मे व्यस्त रहें जो उनकी तारीफें गाते थे···जनता की सेवा के लिए हमेशा की तरह भाषण पर्याप्त थे!

घेरा पुराना ही था···वही जो कल तक था···जिसमें कहीं वह भी था। वही कसाव वही रंग···एकदम वही लोग···फिर नयी मूर्तियों के इर्द-गिर्द डोलते दिखते। फर्क यही था कि इस बार कस डालने का काम बड़ी तेजी से शुरू हुआ था···इतिहास मे आगे आते हुए शायद चीजों की रफ्तार और तेज हो जाती है।

उसने आँखें मलकर सामने देखा—कुछ नहीं हुआ था···तेज दौड़ में आगे निकला हुआ खरगोश सिर्फ आराम करने लगा था!

हड्डियों को नया तेल पिला, चमड़ी मे नयी चमक डाल, अचकन, चूड़ीदार और टोपी के यूनीफोर्म में वह फिर समरभूमि की ओर निकल पड़ा।

मंच दूसरों के कब्जे में था। वह बैठा तो सबसे अगली पंक्ति में लेकिन ऊपर मंच पर स्थान न पाने की बेचैनी उसे लगातार भींच रही थी···उछलना चाहता था ऐसे कि पलटकर एकदम मंच पर जा गिरे,लेकिन कम्बख्त यह सभ्यता···शालीनता···इसमे कितना कुछ जब्त करना पडता है। अध्यक्ष बोले जा रहा था और वह सुन रहा था···सुनना उसके लिए यों भी हमेशा भारी पड़ता है···फिर उस कुर्सी से जिस पर उसे होना

भापाग्रो में ग्रनूदित करके देश के एक-एक नागरिक ग्रौर उसके भी ग्रागे विश्व तक न पहुँचा सके तो न केवल यह देश के प्रति बहुत ही बडा ग्रन्याय होगा वरन् मानव-सभ्यता पर कलंक होगा। धन्य है यह त्रिमूर्ति···देश का भाग्य इनके हाथों में सौंपकर गांधी की ग्रात्मा ग्राज स्वर्ग मे ग्रवश्य ही बडी ही सुखी होगी···।"

भाव ग्रौर भापा का गजब का प्रवाह था जिसे सोचने के लिए एक क्षण-भर के लिए भी थमने की जरूरत नही होती थी···जैसे किसी वाद-विवाद प्रतियोगिता मे खडा कोई विद्यार्थी रटी-रटायी भापा उगले जा रहा था।

राग को वह धीरे-धीरे उतार पर लाया ग्रौर फिर संगीतात्मक परिणति करके ग्राखिर रुका···समाप्त कर सिर झुका श्रोताग्रो का ग्रभिवादन किया ग्रौर नीचे उतरने की बजाय मंच पर ही एक खाली कुर्सी पर जाकर विराज गया। वहीं से उसने मन्त्रियो की तरफ बारी-बारी से ग्रांख मूंद ग्रभिवादन फेंका। मन्त्रीगण तरंगित थे···ग्रभिभूत। जीवन में इतनी प्रशंसा कभी नही मिली थी।

लेकिन वह ठोस जमीन पर था, हमेशा की तरह। वह जानता था कि ग्रभी सिर्फ एक छोटा-सा सुराख हुग्रा था जिस पर से उसे सुरंग निकालनी थी···ग्रौर फिर से करीब-करीब उस जद्दोजेहद से गुजरना था जो राजधानी ग्राने पर शुरू हुई थी। बस, बाबा का ग्राशीर्वाद चाहिए···

●●●